* ओ३म् *

कायाकल्प

लेखक

बुद्धदेव विद्यालङ्कार

प्रथम संस्करण]   ज्येष्ठ, १९९६   [एक रुपया

प्रकाशक—

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार,

गुरुदत्त भवन,

लाहौर

सादी जिल्द १।)

बढ़िया जिल्द १॥)

मुद्रक, श्री प्रकाशचन्द्र, दी आर्य प्रेस, लि०, मोहनलाल रोड, लाहौर।

विषय-सूची

प्रकाशक के दो शब्द

इस लघु-ग्रन्थ में वर्णव्यवस्था-सम्बन्धी जो विचार प्रकट किये गये हैं, उनमें ऋषि दयानन्द की तो कृपा है ही किन्तु वर्तमान युग के विद्वानों में श्री आचार्य रामदेवजी से मुझे बड़ी सहायता मिली है। श्री भगवानदास जी के ग्रन्थ मैंने स्वयं नहीं पढ़े, किन्तु उनका जो परिचय मिला वह श्री आचार्य रामदेवजी से ही मिला। वह परिचय मात्रा में थोड़ा होने पर गुणों के कारण वन्दना के योग्य था। इसलिए उसकी वन्दना करता हूँ। उन्होंने जिस योग्यता से वर्णव्यवस्था के विषय का प्रतिपादन किया है वह उन्हीं का भाग है। दुःख है तो यही कि सङ्गठन का बल साथ न होने से वह ज्ञान पुस्तक के पृष्ठों में ही पड़ा रहा। किन्तु मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि उनका प्रयत्न निष्फल नहीं जायगा। उनके लेख वर्णाश्रम सङ्घ की अक्षय सम्पत्ति हैं। महामना वेल्ज भी टटोलते-टटोलते 'परसोना' (Persona) के रूप में वर्णव्यवस्था के तत्त्व की ओर जा पहुँचे हैं। उनकी पुस्तक 'वर्क वेल्थ एण्ड हैप्पिनेस आव मैनकाइण्ड' (Work Wealth and Happiness of Mankind) से मुझे मानव-जाति की एकता स्थापन करने के महायज्ञ में उत्साह दान मिला है। इसलिए

उनका कृतज्ञ हूँ। श्री परिडत प्रियव्रतजी वेदवाचस्पति के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना तो मानो अपने-आपको ही धन्यवाद देना है। पिछले वर्षों में शतपथ-ब्राह्मण के भाष्य में, अथर्ववेद के भाष्य में, तथा अन्यत्र, न जाने कहाँ-कहाँ उनसे कितने सत्परामर्श मिले हैं और न-जाने कितने और मिलेंगे। उनका धन्यवाद तो अभी न-जाने कितनी वार करना होगा। फिर इस ग्रन्थ के छपवाने, प्रूफ देखने आदि सम्पूर्ण सम्पादन का भार उन पर ही रहा। सो उन्हें क्या कहूँ। वह तो हैं ही प्रियव्रत। उनका नाम ही उनके गुण-कीर्तन के लिए पर्याप्त है।

फिर जब सबको धन्यवाद दे रहा हूँ तो दानवीर श्री कृपाराम साहनी के योग्य पुत्र श्री रामलाल साहनी रावलपिण्डी निवासी को कैसे भुला सकता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ को छपवाने का सम्पूर्ण व्यय अपने ऊपर लिया। और भी न-जाने किन-किन सज्जनों ने इसमें भाग लिया होगा सो उन सबसे "विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः" कहकर छुट्टी लेता हूँ। यदि उनके नाम का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ तो मेरी स्मृति का ही तो दोष है। वह तो अपनी अपार दया से मुझे क्षमा कर ही देंगे।

—बुद्धदेव विद्यालङ्कार

नामकरण

वह शैशव कितना मुग्ध था और कितना मंगलमय था। मानव-जाति ने हिमाचल के उत्तुङ्गतम मैदान में, सूर्य की पुण्य किरणों के मंगल गान में, जगदम्बा का स्तन्यपान करते हुए जन्म लिया था। भोलापन था, अज्ञान न था। स्फूर्ति थी, चञ्चलता न थी। सरलता थी, दरिद्रता न थी। प्रेम था, मोह न था। उत्साह था, ईर्ष्या न थी। दम था, दमन न था। आत्म गौरव था, मद न था। अङ्ग-अङ्ग में यौवन की शक्ति थी। हृदय में शैशव का भोलापन था। मस्तिष्क में वृद्धावस्था का परिपाक था। आत्मा में शान्ति थी। जिस प्रकार तपोवन में विरोधी-जीव इकट्ठे हो जाते हैं इसी प्रकार चञ्चलता, प्रताप और प्रशान्ति इकट्ठे बसते थे। धरती फल-फूल से लदी थी।

आज वह मानव-जाति परस्पर कलह, ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, अज्ञान, दरिद्रता—सब शत्रुओं के घोर आक्रमण से जर्जरित हो चुकी है। जिस प्रकार एक ही वट वृक्ष की जटाओं से, तथा, पवन-प्रवाह के उड़ाए हुए उसके ही बीजों से, उत्पन्न हुए अनेक वट वृक्ष अपनी एकता न पहचान कर एक-दूसरे को खाने दौड़ें वही अवस्था आज मानव-जाति की है। यह काया आज इतनी

जर्जर हो चुकी है कि पहिचानी भी नहीं जाती। आज इसके कायाकल्प का दिन आ पहुँचा है।

कायाकल्प में लोग विश्वास रक्खे या न रक्खें। यह आज सर्वत्र विख्यात हो चुका है। ग्रन्थों में इसका वर्णन है। सुश्रुत में जो इसका वर्णन है वह अभी प्रत्यक्ष देखने में नहीं आया। पाश्चात्य देशों में बन्दर की गिलटियों से कायाकल्प होता है। पर उसके प्रचार के दिन भी अभी दूर हैं। परन्तु यह मानव-जाति का कायाकल्प तो उस प्रकार की विवादास्पद वस्तु नहीं है। पिछले दो सौ वर्षों में मानव-जाति के अनेक अङ्ग अपनी काया-पलट कर चुके हैं। यह भारत-भूमि धरती का उत्तमाङ्ग है। कितना दुःख है कि इसकी जरा (बुढ़ापा) अभी दूर नहीं हुई। जब तक इसकी काया न पलटेगी मानव-जाति का सर्वाङ्ग कायाकल्प नहीं होगा। उस प्रभु की कृपा से आज से ६४ वर्ष पूर्व एक महायोगी ने इसका कायाकल्प का आरम्भ किया था। यह काया-कल्प भारत का नहीं मानव-जाति का है। भारत में उसका आरम्भ तो इसलिए हुआ कि उत्तमाङ्ग के सुधार होते ही शेष सब अङ्ग स्वयं यौवन की ओर भागने लगते हैं। भारत को धरती का उत्तमाङ्ग इसलिए कहते हैं क्योंकि जो मानव-जाति की एकता धरती के

शेष देशों के लिए एक मधुर कल्पना है, भारत के लिए वह मधुर इतिहास (इति+ह+आस) है।

कायाकल्प की प्रक्रिया मनुष्य-देह को नवीन करने में ६ मास लेती है। फिर मानव-जाति के विशाल-देह को नवीन करने में ६ शताब्दी वा ६ सहस्राब्दी भी लग जावें तो धर्म के प्रथम लक्षण धैर्य को गँवाना नहीं चाहिए।

जिस यज्ञ का भारत में आरम्भ ऋषि दयानन्द ने किया था; जिसमें महाकवि रवीन्द्र, महात्मा कार्ल-मार्क्स, महात्मा गान्धी आदि प्रत्यक्ष रूप से अपने-आपको आहुति कर गए और कर रहे हैं; जिसमें महामना भगवानदास तथा महामना वेल्ज़-सरीखे मुनि लोग ज्ञानघृतधारा का प्रवाह कर रहे हैं; जिसमें वीर लेनिन, वीर मुसोलिनी तथा वीर हिटलर, प्रत्यक्ष में विरोधी होते हुए भी अनजाने, हविर्दान कर रहे हैं; उसी कायाकल्प यज्ञ में अब आगे क्या करना होगा यह इस लघु-निबन्ध में लिखा गया है। इसमें मेरा कुछ नहीं है। ब्रह्मा से लेकर दयानन्द पर्यन्त ऋषियों ने जो कुछ कहा है उसी के मन्थन से यह रसायन मौद्गल्य ने तैयार किया है। मैं तो यही कहूँगा कि—

एवम् परम्पराप्राप्तमिमम् ब्रह्मर्षयो विदुः।

बस इसी रसायन को प्रजा के हाथ में देने के लिए यह चमूपात्र है। विद्वज्जन अपने नेत्र, श्रोत्र चमसों से स्वयं इसका पान करें और वाक् चमस से दूसरों को पान करावें। इसी लिए यह कायाकल्पकारी सोमरस तैयार किया गया है। जो इस पात्र को ठोकर भी मारेंगे उन पर भी यदि कोई छींटा इसका पड़ जायगा तो उनका कल्याण करेगा। पीनेवाले तो अद्भुत देह पावेंगे ही। यही परमविनीत भाव से मौद्गल्य का ऋषि-तर्पण है। इससे समस्त वर्तमान और भावी ऋषि लोग तृप्त हों जिससे भूतकाल के ऋषियों का प्रयत्न सफल हो। यही सिर झुकाकर प्रार्थना है। अन्त में—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।

अथर्व० ३।३०।३

जाया पत्ये मधुमतीम् वाचं वदतु शान्तिवाम्।

अथर्व० ३।३०।२

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे।

यजु० ३६।१०

"भाई भाई से द्वेष न करे और बहिन बहिन से।"
"पत्नी पति के लिए मधुभरी, शान्तियुक्त वाणी बोले।"
"हम सब प्राणियों को मित्र की आँख से देखें।"

—मौद्गल्यः

कायाकल्प

१

धर्म क्या है ?

सूर्य उदय हुआ है वा नहीं, यह बात कह कर बतानी नहीं पड़ती। प्रकाश और गर्मी स्वयं इस बात का परिचय देते हैं कि सूर्योदय हो गया। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य धर्मात्मा हो तो उसका परिचय यह कह कर नहीं दिया जा सकता कि वह मनुष्य धर्मात्मा है, क्योंकि उसने सौ बार नाम का जाप किया है, हजार बार गायत्री जपी है, एवं वह नित्य धर्म-पुस्तक का पाठ करता है। कोई मनुष्य सचमुच धर्मात्मा है या नहीं इसका पता इस बात से लगता है कि उसके चारों ओर रहनेवालों पर

उसके व्यवहार से कोई सुखदायक प्रभाव पड़ता है या नहीं। अपने चारों ओर की अवस्थाओं में परिवर्तन धर्मात्मा-रूपी सूर्य की धूप है। बस, यदि हम यह जानना चाहें कि हम धर्मात्मा हैं या नहीं तो इसे हम अपने जाप और पूजा-पाठ से नहीं नाप सकते। इसे हम अपने चारों ओर होनेवाले सुखदायक परिवर्तन से जान सकते हैं। लैम्प में प्रकाश है वा नहीं इसे हम इस बात से नहीं नाप सकते कि उसमें पूरा तेल भरा है वा नहीं। लैम्प के प्रकाश का माप केवल इस बात से हो सकता है कि उसके चारों ओर का अन्धकार दूर हुआ है या नहीं। सूर्य बिना तेल-बत्ती के प्रकाशमान है। एवं बुझा हुआ दीपक तेल-बत्ती के होते हुए भी प्रकाशहीन है। इसी प्रकार कई मनुष्य पूजा-पाठ के बिना भी धर्मात्मा हैं, वे सूर्यवत् हैं। और कई मनुष्य पूजा-पाठ करते रहने पर भी धर्महीन हैं। वे पाखंडी हैं। परन्तु साधारण मनुष्यों को लैम्प के समान प्रकाश उत्पन्न करने के लिए पूजा-पाठ रूपी तेल-बत्ती की आवश्यकता रहती है। जो मनुष्य साधारण होते हुए भी पूजा-पाठ से तथा सत्संग से हीन हैं उनका दिया भी बुझा रहता है। यह बात दूसरी है कि उनके दिए बुझने का कारण पाखंड का धूआँ नहीं, अभिमान

की आँधी है। दिया धूएँ से बुझे चाहे आँधी से—इससे उसके प्रकाशहीन होने में कुछ अन्तर नहीं आता। जिस मुहल्ले मे तुम रहते हो यदि उसकी नालियाँ दुर्गन्ध-युक्त हैं और चारों ओर कीचड़ सड़ रहा है, मच्छरों की बस्तियाँ बस रही हैं, लोग मैले-कुचैले, अनपढ़, रोगों के मारे और निर्धनता के सताए हुए हैं, और, तुम इन अवस्थाओं में परिवर्तन करने के लिए कुछ नहीं कर रहे हो तो मत समझो तुम धर्मात्मा हो। चाहे तुम कितनी भी लम्बी समाधि लगाते हो, कितना भजन-कीर्तन करते हो, कितने घण्टे-घड़ियाल बजाते हो और कितनी भी सामग्री फूँक देते हो, तो भी तुम धर्मात्मा नहीं हो। यदि तुम्हारे मन्दिर की आरती ने, तुम्हारी लम्बी सन्ध्याओं ने और तुम्हारी पाँच नमाज़ों ने तुम्हारी आँखों को ग़रीबों का दुःख देखने के लिए, तुम्हारे कानों को उनकी दर्द-भरी आहें सुनने के लिए और तुम्हारे हाथों को उनके कष्ट-निवारण के लिए विवश नहीं किया तो तुम आँखें रखते भी अन्धे हो, कान रखते भी बहरे हो, हाथ रखते भी लूले हो। संसार में आज तक जितने भी महात्मा धर्म का प्रचार करने आए वह इस ही समवेदना की भावना का प्रकाश तुम्हारे दिए-बत्ती में जलाने आए थे। पादरी लोग

जब कहते हैं कि मसीह ने अन्धों को आँखें दी, बहरों को कान दिये, लूले-लँगड़ों को हाथ-पैर दिये तो वह उस महात्मा के कारनामों को ठीक रूप में पेश नहीं करते। संसार के सभी महात्माओं ने अन्धों को आँखें दी, बहरों को कान दिये, लूले-लँगड़ों को हाथ-पैर दिये। पर इस अभागे संसार ने काम, क्रोध, मोह, लोभ, आलस्य, प्रमाद आदि के घोर विष से अपने-आपको अन्धा, बहरा, लूला, लँगड़ा बना डाला। जिस समय महात्मा पुरुषों की प्रेरणा से जागृत हुई समवेदना की भावना हमें, अपने चारों ओर फैली हुई बिगड़ी अवस्था को परिवर्तन करके, इस धरती को साफ-सुथरी और आनन्द-भरी बनाने के लिए कटिबद्ध करती है, उस समय हमारी खोई हुई आँखें वापिस मिल जाती हैं; हमारे बहरे कान सुनने लगते हैं; और, हमारे कटे हुए हाथ-पैर फिर हरे हो जाते हैं। बस, जहाँ यह अपने चारों ओर की अवस्था को सुखमय दशा में परिवर्तन करने की प्रबल भावना जीती है वहीं धर्म है। यही धर्म का स्वरूप है।

२

धरती की वर्तमान अवस्था

यह धरती एक छोटा-सा ब्रह्माण्ड है। अर्थात् परब्रह्म की शक्ति के गर्भ से निकले हुए अनेक अंडों में से एक छोटा-सा अंडा है। इसका व्यास ८ हज़ार मील लम्बा और परिधि २४ हज़ार मील है। इस पर इस समय की मनुष्य-गणना के अनुसार लगभग २ अरब १० करोड़ मनुष्य बसते हैं। यदि यह सब मनुष्य एक भाषा बोलें, एक मर्यादा में चलें, और, इस धरती माता को अपनी माता समझें, समस्त मानव-समाज की सेवा को अथवा प्राणि-मात्र की सेवा को परमात्मा की आराधना का सबसे बड़ा साधन समझें, तो इस धरती

पर एक अवर्णनीय सुख का साम्राज्य हो जाये। परन्तु क्या इस समय धरती की जैसी अवस्था होनी चाहिए वैसी है? क्या मानव-जाति की एक मर्यादा है? क्या सम्पूर्ण मानव-राष्ट्र को भूमिमाता से प्रेम है? क्या विश्व की एक भाषा है? इस समय भूमिमाता ७० मातृभूमियों में विभक्त है। इस समय अकेले भारत में २३ मुख्य भाषायें बोली जाती हैं। भारत मे छोटी-बड़ी सब मिला कर कुल २०० भाषायें हैं। विश्व का अनुमान तो इसी से लगाया जा सकता है। यदि छोटे-छोटे भाषा-भेदों को भुला दें तो विश्व में इस समय लगभग १०० मुख्य भाषायें बोली जाती हैं। मर्यादाओं की बात तो पूछो ही मत। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे तुण्डे सरस्वती," अर्थात् "प्रत्येक खोपड़ी में अलग-अलग मति है और हरेक मुँह में अलग-अलग बात।"

सबसे अधिक कष्ट की बात तो यह है कि मानव-जाति के शत्रु तो आपस में सङ्गठित हैं, और, मानव-जाति आपस में इतनी विभक्त है। संसार के किसी देश के लोगों से पूछिये कि तुम्हारे देश पर यदि कोई शत्रु आक्रमण करे तो तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है? वे निश्चित रूप से उत्तर देंगे, जी-जान से उस शत्रु से लड़ना।

यदि उनसे पूछा जाय कि जब शत्रु ने आक्रमण किया हो उस समय जो लोग आपस में लड़ें उन्हें आप क्या कहेंगे ? तो वे निश्चित रूप से ऐसे मनुष्यों को हत्यारे, देश-द्रोही आदि नामों से पुकारेंगे। किन्तु क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मानव-जाति के शत्रुओं के घोर आक्रमण की बाढ़ सिर पर रहते हुए भी, वे लोग जो मानव-जाति का सर्वोत्तम हित करने की योग्यता रखते हैं, परस्पर लड़ने में व्यस्त हैं। यदि इन भाइयों को कोई कहे कि तुम देश-द्रोही हो, राष्ट्र-हत्यारे हो तो वे निःसन्देह लड़ने, मरने और मारने के लिये तैयार हो जायेंगे। परन्तु यदि किसी शान्त आत्म-निरीक्षण के समय में वे अपनी ओर देखें तो उन्हें लज्जा से मुँह छिपाना पड़े।

इससे पता लगता है कि इस संसार में धर्म की उचित मात्रा उपस्थित नहीं है। यदि धर्म का बिल-कुल अभाव होता तो मानव-समाज का बिलकुल विध्वंस हो जाता। परन्तु ७० बड़े-बड़े राष्ट्र खड़े हैं। वे अपना-अपना धारण कर रहे हैं। इससे पता लगता है कि धर्म का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। किन्तु जब तक मनुष्य-समाज इकट्ठा होकर अपने शत्रुओं से नहीं लड़ता तब तक धर्म का पूरा विकास हुआ है, यह भी

नहीं कह सकते। जिस दिन सुख की धूप संसार के प्रत्येक कोने में प्रविष्ट होगी उस दिन धर्म का सूर्य अपने पूरे प्रताप पर पहुँचा है, ऐसा कह सकेंगे।

ॐ

१. संसार के तीन प्रकार के शत्रु हैं

हमारे एक प्रकार के शत्रु आधिदैविक विपत्तियें हैं। जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प आदि। इनसे हम दो प्रकार से युद्ध कर सकते हैं—

(१) उत्तम आचरणों द्वारा, और,

(२) ईश्वराराधन से।

यहाँ उत्तम आचरणों से अभिप्राय इन विपत्तियों का यथा-शक्ति प्रतीकार करने से है। जैसे बाँध बाँधने द्वारा अतिवृष्टि का, नहरों द्वारा अनावृष्टि का, विशेष प्रकार के घर बनाकर भूकम्प का प्रतीकार करना—ये सब उत्तम आचरण हैं। आधिदैविक विपत्तियों के

हमारे सब प्रतीकार पहिले उपाय के विना अधूरे हैं, यह हमें कभी नहीं भुलाना चाहिये।

मानव-जाति के दूसरे शत्रु आधिभौतिक हैं। सर्प, बिच्छू, मच्छर, टिड्डी आदि प्राणियों तथा डाका, युद्ध आदि परस्पर के कलह से जो कष्ट हमें पहुँचते हैं वे हमारे आधिभौतिक शत्रु हैं। इनका भी उपाय मानव-जाति की सम्मिलित शक्ति से इनका प्रतीकार करना ही है। वह प्रतीकार दो प्रकार का है—

(१) इन विध्वंसक शक्तियों को यथा-सम्भव उपकारी बनाना, और,

(२) यदि ऐसा न हो सके तो इनका विध्वंस कर डालना।

हमारे तीसरे शत्रु आध्यात्मिक हैं। आधिदैविक तथा आधिभौतिक दोनों प्रकार के दुःख अन्ततोगत्वा हमारे आध्यात्मिक शत्रुओं के ही खेल हैं। इसलिए इस ग्रन्थ में इसी विषय पर विचार होगा कि इनसे युद्ध करने के लिए मानव-राष्ट्र का सङ्गठन किस प्रकार किया जाय। इससे पहिले कि हम इन शत्रुओं से लड़ने के लिए मानव-राष्ट्र को सङ्गठित करने का विचार करें, यह आवश्यक है कि हम यह जानें कि यह आध्यात्मिक शत्रु कौन से हैं और किस प्रकार आक्रमण करते हैं।

२. संसार के पाँच आध्यात्मिक शत्रु

संसार के ५ आध्यात्मिक शत्रु हैं—

क. अज्ञान

ख. स्वार्थ

ग. विक्रोश

घ. आलस्य

ङ. अभाव

इनमें से प्रत्येक को एक-एक करके लेता हूँ।

क. अज्ञान

भगवान् वेदव्यास ने गीता में कहा है—"नहि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रमिह विद्यते।" अर्थात्, "ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु संसार में दूसरी नहीं है।" इससे स्पष्ट है कि अज्ञान के समान अपवित्र वस्तु भी दूसरी नहीं है। मै अज्ञान को सबसे बड़ा शत्रु इसलिए कहता हूँ कि यह संसार के हितैपियों के हाथ से भी संसार का अहित करवा डालता है। जो लोग स्वभाव से दुष्ट हैं, जिन्हें पर-पीड़ा में निष्कारण आनन्द आता है, अथवा जो स्वार्थवश दूसरों के हित का नाश करते हैं, उनके हाथों संसार का अनिष्ट होना तो बिलकुल स्वाभाविक ही है। किन्तु अज्ञान से तो हित चाहनेवाले भी, अपनी समझ में हित करते हैं ऐसा समझते हुए भी, अहित कर बैठते

हैं। अथवा समस्या उपस्थित होने पर किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर विवश हो बैठे रहते हैं। जिन मनुष्यों ने सत्य का प्रकाश करनेवाले विज्ञानवेत्ताओं को धमकाया, सताया और जीते-जी जला तक दिया, वे अपनी समझ में संसार का और स्वयं विज्ञानवेत्ताओं का—दोनों का—हित ही साध रहे थे। जब तक रेलगाड़ी तथा व्योमयान का आविष्कार न हुआ था, मनुष्य दूर देशस्थित मनुष्यों का हित चाहते हुए भी विवश थे। इस सारे दुःख का कारण था अज्ञान।

मनुष्य को केवल विचारों के प्रकाश-मात्र के लिए दण्ड नहीं देना चाहिए। क्योंकि न-जाने जिन विचारों को हम आज सर्वथा सत्य समझते हैं कल उनमें कुछ परिवर्तन हो जाय। यह विचार-स्वातन्त्र्य की भावना कोई गहरा सत्य नहीं है। किन्तु इतने से सत्य के यथार्थ ज्ञान के न होने ने कितने पूजा के योग्य महापुरुषों को बलिदान किया, जब इस पर विचार करते हैं तो आश्चर्य होता है। डेगची से ढक्कन उछलते किसने नहीं देखा? किन्तु इतनी-सी बात के पूर्ण परिणाम क्या हैं इसी बात के ज्ञान ने मानव-जाति के इतिहास में कैसा विशाल परिवर्तन कर डाला है जब यह विचारते हैं तो यह कहना पड़ता है कि तिनके की ओट पहाड़

छिपा पड़ा था। इसी लिए चरक महाराज के स्वर में स्वर मिला कर कहना पड़ता है कि "प्रज्ञापराधो मूलं सर्वरोगाणाम्," अर्थात्, "समझ का दोष सब रोगों की जड़ है।"

इस समय मानव-जाति के सङ्गठन के सम्बन्ध में जो अज्ञान फैला हुआ है, आज तक साधारण-सी सामाजिक उन्नति की बातों को लोक-व्यवहार तक पहुँचाने में जितना श्रम का व्यय हुआ है, और, जितना अभी तक शेष है, उसे देख कर तो और भी आश्चर्य होता है। जो साधारण-सी भूलें हम एक छोटे से परिवार के सम्बन्ध में होना सहन नहीं कर सकते वे ही सारे मानव-समाज को दुःख दे रही हैं यह देख कर किसे आश्चर्य न होगा? सच तो यह है कि इस ग्रन्थ में मानव-समाज के कायाकल्प के लिए जो उपाय मैं लिखने लगा हूँ वह इतने सरल और लोक-विदित हैं कि उन्हें लिखते समय लज्जा अनुभव होती है। किन्तु जब यह देखता हूँ कि इन साधारण से मनोवैज्ञानिक तथ्यों के ठीक प्रयोग न होने से संसार में कितना दुःख बढ़ रहा है तो प्रेम, लज्जा और संकोच पर विजय पा ही लेता है।

ख. स्वार्थ

संसार का दूसरा शत्रु स्वार्थ अथवा तृष्णा है। यों तो महात्माओं को छोड़ कर साधारण मनुष्य-मात्र स्वार्थ और प्रेम के मेल का परिणाम है। किन्तु कई मनुष्यों में यह स्वार्थ असाधारण मात्रा में पाया जाता है। भर्तृहरि जी ने मानव-समाज के बड़े सुन्दर विभाग किये हैं। वे लिखते हैं—

> एके ते पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं विनिघ्नन्ति ये
> सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
> तेऽमी मानुषराक्षसाः परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
> ये निघ्नन्ति निरर्थकम् परहितं ते के न जानीमहे॥

अर्थात्, "इस संसार में चार प्रकार के मनुष्य हैं—

"(१) वे महात्मा लोग जो अपने स्वार्थ का त्याग करके दूसरों का हित करते हैं।

"(२) वे लोग जो यदि उनके स्वार्थ को हानि न पहुँचती हो तो यथाशक्ति परोपकार भी करते हैं। संसार में सबसे अधिक संख्या इन्हीं लोगों की है।

"(३) वे लोग जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के स्वार्थ का नाश करते हैं।

"(४) वे लोग जो ठीक उसी प्रकार निष्काम भाव से दूसरों की हानि करते हैं जिस प्रकार निष्काम भाव से महात्मा लोग दूसरों का हित करते हैं। भर्तृहरि जी कहते हैं कि इनका क्या नाम धरूँ सो समझ नहीं आता।"

सो स्वार्थ मनुष्य को राक्षस बना देता है। यह काम, लोभ, मोह और अभिमान के रूप में प्रकट होता है। जिनमें से काम और लोभ मुख्य हैं।

ग. विक्रोश

मनुष्य-जाति का तीसरा शत्रु विक्रोश है। यह वह दुर्गुण है जिसके कारण वे मनुष्य उत्पन्न होते हैं जिन्हें भर्तृहरि जी ने चौथी श्रेणी में रखा है। कई मनुष्यों में दूसरों के दुःख में आनन्द लेने की स्वाभाविक दुष्प्रवृत्ति होती है। वह काम, क्रोध, लोभ आदि किसी भी कारण से नहीं, किन्तु निष्कारण, दूसरों को पीड़ा देते हैं। उनके हृदय में जो स्वाभाविक विध्वंसकारिणी प्रवृत्ति होती है उसे हमने अनुक्रोश के उलटे विक्रोश का नाम दिया है।

वस्तुतः देखा जाय तो स्वार्थ और विक्रोश का मूल

भी अज्ञान है। यदि इन मनुष्यों को अपने कर्मों के फल का पूर्ण रूपेण ज्ञान हो जाय तो ये ऐसा कभी न करें। पूर्ण ज्ञान से हमारा तात्पर्य है कि उन्हें साक्षात्कार हो जाय। क्योंकि उपदेश-मात्र से ज्ञान तो सबको मिल ही जाता है।

घ. आलस्य

मानव-समाज का चौथा शत्रु आलस्य है। इसे हमने स्वार्थ तथा विक्रोश से अलग इसलिए रखा है क्योंकि यह बहुधा धर्मात्मा मनुष्यों में भी पाया जाता है। यह वही वस्तु है जिसे गीता में—

*तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व देहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ गीता १४।८

के नाम से याद किया है। बहुत-से मनुष्य ऐसे पाए जाते हैं जो संचित धन में से सहस्रों दान करते हैं परन्तु स्वयं कुछ कार्य नहीं करते। उनमें पराए दुःख में समवेदना पाई जाती है। वे दान भी करते हैं इसलिए उन्हें स्वार्थी कैसे कहें? वे किसी को दुःख

---

* अज्ञान से तम उत्पन्न होता है जो सब प्राणि-मात्र को मूढ़ बना देता है। यह तमोगुण प्राणियों को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के बन्धनों से बाँधता है।

भी, जहाँ तक बन पड़ता है, नहीं देते। परन्तु स्वयं करते कुछ नहीं। इनका दोष आलस्य है। संसार में किसी को दुःख "न देना" इतने मात्र से मानव-जाति का कल्याण नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ "देना" भी चाहिए। किन्तु भारतवर्ष में तो बहुत-से धार्मिक सम्प्रदाय तक ऐसे हैं जो दुःख न देना मात्र में धर्म की इतिश्री समझते हैं। उनका कहना है कि—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए सबके दाता राम॥

ऐसे मनुष्य सचमुच अजगर की तरह चुपचाप पड़े रहते हैं। अजगर तो किसी को दुःख भी देता है परन्तु वे किसी को दुःख नहीं देते। किन्तु ऐसे मनुष्यों से भी मानव-समाज का हित नहीं हो सकता। इस लिए हमने आलस्य को मानव-समाज का चौथा शत्रु माना है।

वेद में इस पुरुषार्थ की क्रिया को सवन (extraction) के नाम से पुकारा गया है। अर्थात् हरएक मनुष्य का धर्म है कि वह किसी-न-किसी पदार्थ में से सार को खींच निकाले। किसान बीज को साधन बनाकर धरती में से अन्न सवन करता है। बढ़ई अपने यन्त्रों से

लकड़ी में से उपकरणों का सवन करता है। रसायन-शास्त्र का विद्वान् पदार्थों में से उनके परस्पर सम्बन्ध की विद्या के तत्त्वों का सवन करता है। और फिर वे सब इन सवनों के परिणाम सोमों को भगवान् की भेंट करते हैं। जो सवन नहीं करते वे प्रभु के प्यारे नहीं हैं। वेद में कहा है—"यः सुन्वतः सखा तस्मा इन्द्राय गायत" (ऋ० १।४।१०) अर्थात्, "जो सवन करनेवालों का सखा है उस इन्द्र के (परमात्मा वा राजा के) गीत गाओ।"

सो आलस्य सवन का उलटा है। यह भी मानव-जाति का महाशत्रु है।

ङ. अभाव

मानव-जाति का पाँचवाँ शत्रु अभाव है। वस्तुतः सोचें तो इसका भी मूल अज्ञान है। किन्तु इसको हमने अन्य शत्रुओं से पृथक् इसलिए रखा है कि यह उन मनुष्यों से भी पाप करवाता है जो स्वभाव से दुष्ट अथवा आलसी नहीं हैं। उदाहरण के लिए किसी देश में दुर्भिक्ष आ पड़े तो वहाँ अच्छे पुरुषों को भी अपना-आप सँभालना कठिन हो जाता है। किसी ने क्या अच्छा कहा है—

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।

अर्थात्, "भूखा आदमी कौन-सा पाप नहीं कर डालता? भूखे लोग निर्दय हुआ करते हैं।"

यह अभाव दो कारणों से उत्पन्न होता है—

(१) उपभोग्य वस्तुओं के ह्रास से, और,

(२) उपभोक्ताओं की अतिवृद्धि से।

ज्ञानी मनुष्य इन दोनों विपत्तियों का उपाय पहिले से सोचकर इनका प्रतीकार करते हैं। इसी लिए हम कहते हैं कि मानव-जाति का सबसे बड़ा शत्रु अज्ञान है।

४

१. संविभाजन

इस ग्रन्थ में हमारा मुख्य उद्देश्य मानव-समाज के सङ्गठन-सम्बन्धी अज्ञान को दूर करना है। यदि इस धरती पर प्राणियों की संख्या इतनी बढ़ जाय कि उनके लिए जीवनोपयोगी पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न न हो सकते हों तो समस्या दूसरी होगी। और उसके उपायों पर हम किसी अगले अध्याय में विचार करेंगे। किन्तु अभी तक तो इस धरती की यह अवस्था नहीं है। परन्तु फिर भी इस संसार में सैकड़ों मनुष्य दुर्भिक्ष, व्याधि, परिच्छदाभाव तथा परस्पर घात से पीड़ित हो रहे हैं। एक ओर तो लाखों मनुष्य दाने-दाने को

तरस रहे हैं, दूसरी ओर लाखों मन अन्न इसलिए कोयले के स्थान में जलाया जा रहा है कि कहीं अन्न सस्ता न हो जाय। इससे स्पष्ट है कि मानव-समाज इस समय अवर्त्ति अथवा अभाव (Scarcity) से पीड़ित नहीं। किन्तु मानव-समाज के वर्तमान दुःखों का कारण विद्यमान पदार्थों के ठीक विभाग का न जानना है। इसी अज्ञान को दूर करने के लिए वेद ने, शास्त्रकारों ने, तथा संसार के अन्य विद्वानों ने, जो कहा है उसका यथामति निष्कर्ष इस ग्रन्थ में देते हैं।

इससे पहले कि हम पदार्थों के ठीक बँटवारे के विषय में कुछ कहें यह आवश्यक है कि हम यह जान ले कि बँटवारा किन पदार्थों का करना है। इन बँटवारे के पदार्थों को हम दो विभागों में बाँटते हैं—

(१) आलम्बन पदार्थ, और,

(२) अनुबन्ध पदार्थ।

"आलम्बन पदार्थ" वे पदार्थ हैं जिनके बिना हमारी जीवन-यात्रा असम्भव है। यह पदार्थ संख्या में चार हैं—

(१) ज्ञान,

(२) आहार,

(३) परिच्छद (वस्त्र तथा निवास-स्थान), और,

(४) चिकित्सा।

किसी राष्ट्र में प्रत्येक मनुष्य को, जो जान-बूझकर श्रम करने से इनकार न करे, यह चार पदार्थ अवश्य मिलने चाहिएँ। और जो श्रम करने से इनकार करे उसे भी श्रम करने के लिए बाधित करना चाहिए नकि इन पदार्थों से वञ्चित करना चाहिए।

"अनुबन्ध पदार्थ" वे हैं जिनके विना हमारा जीवन-निर्वाह हो सकता है। जैसे उच्चकोटि का सङ्गीत, उच्च चित्र-कला, अति सुस्वादु भोजन आदि। यह पदार्थ भी यथा-सम्भव सबको मिल सकें तो अच्छा है। परन्तु यदि इनमें किसी कारणवश, समाज के हित के लिए, कुछ प्रतिबन्धों की आवश्यकता हो तो लगाए जा सकते हैं। यदि यह सबको प्राप्त न हों तब भी समाज की व्यवस्था चल सकती है।

अब हमारे पास एक कसौटी आ गई जिससे हम किसी समाज की व्यवस्था के भले-बुरे होने का नाप कर सकते हैं। जिस समाज-व्यवस्था में आलम्बन पदार्थों से कोई श्रमेच्छु वञ्चित न रहे, जिसमें अनुबन्ध पदार्थ भी यथा-सम्भव सब तक पहुँचाए जा सकते हों, वह व्यवस्था समाज के लिए आदर्श व्यवस्था है।

वेद में परमात्मा के अनेक गुणों में एक गुण यह भी कहा है—

त्रिभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम् ॥ यजु॰ ३०।४

अर्थात्, "हम, मनुष्यों की ठीक परख कर सकने वाले, तथा हरेक मनुष्य की आवश्यकताओं के पूरा करने में समर्थ, विविध प्रकार का ज्ञानवर्धक धन यथा-योग्य सबमें बाँटने हारे, सविता (परमात्मा अथवा उसके गुणों को धारण करनेवाले राजा) को पुकारते हैं।"

२. अधिकार

किसी पदार्थ को उपयोग में लाने के लिए समाज जिस व्यक्ति को जिस अंश तक स्वतन्त्रता देता है उस अंश तक उसका उस पदार्थ पर अधिकार कहा जाता है।

अब इस प्रश्न का उत्तर जानना हमारे लिए सरल हो गया कि संसार में वस्तुओं पर किसी मनुष्य का कहाँ तक अधिकार है। जिस अधिकारों के बँटवारे का परिणाम पदार्थों के उस बँटवारे के अधिक-से-अधिक समीप पहुँचता हो जिसका हम पहिले वर्णन कर आए हैं, अर्थात्, जिस अधिकार-विभाग से सबको आलम्बन पदार्थ (राधसः, यजुः ३०।४) अपेक्षित मात्रा में मिल जावें, तथा, अनुबन्ध पदार्थ भी अधिक-से-अधिक और

इस प्रकार से मिलें कि उससे ज्ञान की वृद्धि और अविद्या का नाश हो (चिती संज्ञाने, चित्रस्य, यजुः ३०।४) तो वह अधिकारों का बँटवारा सबसे श्रेष्ठ है।

इस समय लाखों मनुष्यों का भूखे मरना यह बताता है कि आजकल का बँटवारा ठीक नहीं है। वेद ने कहा है—"न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुः।" (ऋ० १०।११७।१) अर्थात्, "देवों ने यह नियम बनाया है कि भूखों कोई न मरे।" लाखों मनुष्य आज ज्ञानहीन हैं। उधर वेद की आज्ञा है कि "कल्याणी वाणी" (शिक्षा) सबको मिलनी चाहिए (यजुः २७।२)। इससे यह पता लगा कि संसार में पदार्थों का बँटवारा ठीक नहीं। क्योंकि पदार्थों का बँटवारा ठीक नहीं है इसलिए स्पष्ट है कि अधिकारों का बँटवारा भी ठीक नहीं है।

अब हमें देखना है कि वह अधिकारों का बँटवारा किस आधार पर हो तो पदार्थों का बँटवारा ठीक हो सकता है। इस विषय में इस समय तक दो पक्ष प्रचलित हैं—

(क) जन्माधिकारवाद, और,

(ख) श्रमाधिकारवाद।

क. जन्माधिकारवाद

जन्माधिकारवादियों का कहना है कि परमात्मा ने जिस मनुष्य को जिस कुल में जन्म दे दिया है उसे उस कुल में जन्म लेने के कारण अपने पिता तथा अन्य पूर्वजों की सम्पत्ति का उपभोग करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। यह सिद्धान्त केवल भारतवर्ष में प्रचलित हो यही बात नहीं है; किन्तु समस्त संसार में (रूस को छोड़कर) यही सिद्धान्त प्रचलित है। यह ठीक है कि भारतवासियों ने इस सिद्धान्त को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। यहाँ राजा से लेकर भंगी तक सभी अधिकार तथा कर्तव्य जन्मसिद्ध हैं। किन्तु यूरोप, अमेरिका आदि देशों में भी सम्पत्ति पर उत्तराधिकार केवल जन्म के आधार पर ही माना जाता है। रॉकफेलर के पुत्र को अतुल धन-सम्पत्ति भोगने का अधिकार है। किसी योग्यता के कारण नहीं; केवल मात्र इसलिए कि वह रॉकफेलर का पुत्र है।

इस जन्माधिकारवाद के विषय में क्या कहा जाय? वर्तमान युग की सभी विपत्तियों का यही मूल कारण है। उन्नति के दो मूलमंत्र हैं। एक भय तथा दूसरा उत्साह। इन दोनों का गला घोंटने का इससे बढ़कर

आदर्श उपाय दूसरा नहीं सोचा जा सकता। विशेषकर भय का तो इसमें लोप ही हो जाता है। जब रॉक-फ़ेलर के पुत्र को यह भय न हो कि किसी अवस्था में उसकी सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है, और, मंगत चमार को यह उत्साह न हो कि वह भी समाज में कभी बड़ी पदवी पा सकता है, तो उन्नति कैसे हो? पाश्चात्य देशों में, जहाँ धन से ही उन्नति नापी जाती है, निर्धन को धनी बनने का तो किसी अंश तक अवसर है और इससे बहुत-से उद्योगी तथा बहुत-से धूर्त्त-व्यक्ति लाभ भी उठाते हैं। किन्तु भय का वहाँ भी अभाव है। धनपति के पुत्र को किसी अवस्था में भी पिता की सम्पत्ति के अधिकार से वञ्चित होने का भय नहीं है। इसके जो दुष्परिणाम हैं वह इतने स्पष्ट हैं कि उनका विस्तार से वर्णन करना अनावश्यक है। आज श्रमजीवी समुदाय की ओर से जो भयङ्कर क्रान्ति का झण्डा खड़ा किया गया है उसका मूलकारण यही अत्याचार हैं। अपने दीर्घ अध्यवसाय, निरन्तर जागरूकता, दृढ़ सङ्गठन-शक्ति, और, श्रमजीवियों के साथ मधुर तथा न्याय-पूर्ण व्यवहार के बल पर, जो श्रमजीवी पूँजीपति के पद पर पहुँचे हैं, तथा उस समुपार्जित सम्पत्ति में से करोड़ों रुपया जिन्होंने दान

द्वारा कला और विज्ञान की उन्नति तथा अन्य राष्ट्रीय उपकार के कामों में लगाया है, उनकी सम्पत्ति, सिवाय कुछ कट्टरपन्थी साम्यवादियों के अथवा कुछ ईर्ष्यालु मनुष्यों के, अन्य किसी को नहीं अखरती। सो कट्टरपन्थी तो सत्य को मानने से इन्कार करते ही हैं, चाहे वे मुसलमान हों, ईसाई हों, सनातनधर्मी हों, आर्यसमाजी हों अथवा साम्यवादी हों। किन्तु जो मनुष्य सत्य को रूढ़ियों से ऊपर समझते हैं वे साम्य-वाद की रूढ़ियों से भी दबनेवाले नहीं हैं। अतएव यह मानना उचित ही है कि जिन्होंने अपनी सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक सदुपयोग किया है उनकी सम्पत्ति किसी को नहीं अखरती। जो बात सत्यासत्य विवेचक सहृदय लोगों को अखरती है, वह यह है कि वह पूँजी बिना परीक्षा के उस पूँजीपति के पुत्र को क्यों मिले। और दुरुपयोग-पर-दुरुपयोग करने पर भी उसके हाथों में क्यों पड़ी रहे ?

इसका उत्तर बहुत-से लोग विधाता का विधान, कर्मफल, भाग्य अथवा ईश्वराज्ञा के नाम से देते हैं। ईश्वर के सबसे बड़े शत्रु उसके यह भाग्यवादी भक्त हैं। वे भूल जाते हैं कि जिस भगवान् ने हमें विशेष अवस्थाओं में जन्म दिया है उसी ने हमें-उन्हें अपने

अनुकूल करने की शक्ति और आदेश भी तो दिया है। हाथ, पैर, आँख, नाक, कान और सबसे बढ़कर सिर—यह सब मूल्यवान् सम्पत्ति भगवान् ने भाग्य के साथ लड़कर उसे जीतने के ही लिए दी है। भगवान् ने कहा है—

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि आप्नुहि श्रेयांसम्। अतिसमम् क्राम॥ अथर्व० २।११।१

अर्थात्, "तू शस्त्रों को काटनेवाला शस्त्र है, तू दूषणों को दूषित कर देनेवाली महाशक्ति है, तू चिन्ताओं का पहिले से चिन्तन करनेवाला अनागत विधाता है। उठ जो तेरे साथ की पंक्ति में हैं उन्हें पीछे छोड़ और जो अगली पंक्ति में हैं उनमें जा मिल।"

वह भगवान् ही तो कहता है—

कृतम्मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
अथर्व० ७।५०।८

अर्थात्, "हे मनुष्य सदा याद रख, पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथ में रहता है और विजय बाएँ हाथ में रहती है।"

भगवान् का हाथ, पैर, सिर आदि शक्तिएँ हमें देना ही इस बात का प्रमाण है कि हमारा काम भाग्य से युद्ध करना है।

अतएव धनपतियों के पुत्र भी धन का सदुपयोग करें। हमें इसका पूरा प्रबन्ध करना चाहिए। यह प्रबन्ध केवल तीन अवस्थाओं में हो सकता है—

(१) उन्हें धन के सदुपयोग की उत्तम-से-उत्तम शिक्षा दी जाय। केवल वाणी ही द्वारा नहीं आचरण द्वारा भी।

(२) उन्हें यह भय हो कि यदि वे सदुपयोग करना न सीखेंगे तो उनकी सम्पत्ति छीन ली जायगी।

(३) यदि दुरुपयोग करें तो छीन ली जाय। जिससे यह राजनियम केवल स्मृति-ग्रन्थ की धारा-मात्र न रह जाय।

जब तक ऐसा न होगा तब तक पूँजीपति, जिसमें पूजा की पूँजी पानेवाले भारतीय ब्राह्मणाभास तथा राज्याधिकार की पूँजी पानेवाले राजा तथा सरदार लोग भी सम्मिलित हैं, संसार पर मनमाने अत्याचार करते ही रहेंगे।

इसलिए भय तथा उत्साह दोनों का बाधक होने के कारण जन्माधिकारवाद धर्म-विरुद्ध है। उसके द्वारा संसार सुखी कभी नहीं हो सकता।

ख. श्रमाधिकारवाद

किसी पदार्थ पर किसी का अधिकार क्यों है इस

विषय में जन्माधिकारवाद पर विचार हो गया। अब हम दूसरे वाद श्रमाधिकारवाद पर आते हैं। श्रमाधिकारवादियों का कहना है कि जिस किसी ने किसी पदार्थ को उत्पन्न करने में श्रम किया है, उसका उस पर अधिकार है। किन्तु यह वाद भी युक्ति की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता।

हम प्रतिदिन देखते हैं कि जीवन-भर की कमाई को एक मनुष्य चार विद्वानों की एक सभा को दान कर जाता है कि इससे एक पुस्तकालय चलावें। इसकी सब प्रशंसा करते हैं। न केवल कोई इसे बुरा नहीं मानता, उलटा ऐसा करनेवालों की कीर्त्ति का चारों ओर विस्तार होता है। यह स्पष्ट है कि उन चारों विद्वानों ने इस ५० सहस्र के उत्पन्न करने में कुछ भी श्रम नहीं किया। दूसरी ओर जिसने श्रम करके यह ५० सहस्र रुपए इकट्ठे किए थे, वह जब विद्वत्समिति को यह रुपए दान करता है तो स्पष्ट इस बात की घोषणा करता है कि मेरी अपेक्षा इस धन पर इस विद्वत्समिति का अधिकार होना अच्छा है। और प्रजा भी अपनी प्रशंसा द्वारा इस बात का अनुमोदन करती है।

इसके दूसरी ओर यदि वही मनुष्य अपने इस

५० सहस्र रुपए के नोट लेकर अपने एक मित्र को चाय पिलाने के समय उन नोटों को जलाना आरम्भ करे, तो हरएक मनुष्य इस बात का विरोध करेगा और चाहेगा कि यह नोट उससे छीन लिए जावें। यदि वह मनुष्य झुँझला कर यह कहे कि मेरी कमाई है, जैसे चाहूँ फूँकूँ तो सब इसका विरोध ही करेंगे। उसका यह कहना ठीक ऐसा ही है जैसे कोई आत्म-हत्या करनेवाला कहे मेरा शरीर है जैसे चाहूँ फूँकूँ। यह ठीक है कि आत्म-हत्या के विरुद्ध राजनियम बन चुका है। किन्तु सम्पत्ति के नाश के विरुद्ध अभी राज-नियम नहीं बना। परन्तु बनना चाहिए। इसका विरोध कोई भी सहृदय मनुष्य नहीं कर सकता। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का शरीर राष्ट्र की सम्पत्ति है उसी प्रकार सम्पत्ति भी वास्तव में राष्ट्र की है। उसे नाश करने का भी किसी को अधिकार नहीं। किन्तु यह अधिकार का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित ही तब होता है जब कोई सम्पत्ति का दुरुपयोग करता है। तो सारी प्रजा उसका अभिनन्दन करती है।

३. सदुपयोग

इसलिए यही सिद्धान्त मानना ठीक है कि जो

सम्पत्ति का सबसे अधिक सदुपयोग करे, उसी का सबसे अधिक अधिकार है। और जो दुरुपयोग करे उसका अधिकार छीन लेना चाहिए। इस सिद्धान्त का नाश "सदुपयोगवाद" है।

४. साम्यवाद

इसी प्रसङ्ग में लगे हाथों साम्यवाद के प्रश्न पर भी विचार कर लेना अयुक्त न होगा।

सदुपयोग के आधार पर ही साम्य का प्रश्न भी अवलम्बित है। यदि संसार के सब मनुष्यों में अपने अधिकारों का सदुपयोग करने की क्षमता एक-सी हो तो सबके अधिकार भी समान हैं। परन्तु हम स्पष्ट देखते हैं कि ऐसा नहीं है। न सब मनुष्यों की भूख एक-सी है, न श्रमशक्ति एक-सी है, न योग्यता एक-सी है। ये चीजें न मात्रा में एक-सी हैं, न एक प्रकार की हैं।

जिस प्रकार हमारी नाक के लिए एक पेड़े से लेकर एक थाल तक सब व्यर्थ हैं, कान के लिए सुगन्ध के एक बिन्दु से इत्रदान तक सब व्यर्थ हैं, रसना के लिए वीणा के एक स्वर से लेकर सम्पूर्ण राग-रागिणी तक सब व्यर्थ हैं, ऐसे ही बहुत-से मनुष्यों के लिए सांसारिक वैभव व्यर्थ हैं। बहुत-सों के लिए कला के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चमत्कार व्यर्थ हैं। वेद के शब्दों में—

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः,
सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि,
ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः॥ ऋग्० १०।११७।६

अर्थात्, "दोनों हाथ एक से दीखते हैं पर इनकी क्रिया-शक्ति एक समान नहीं है, एक माँ से पैदा होनेवाली एक-सी दो गौवें एक समान दूध नहीं देतीं, दो जोड़िया भाइयों की शक्तिएँ भी एक समान नहीं होतीं, एक ही वंश के दो व्यक्ति एक समान दान नहीं करते हैं।"

इस अवस्था में सबको एक समान अधिकार देना युक्ति-सङ्गत नहीं है। ऐसा न कभी हुआ है और न होगा ही। जो लोग अपने आपको अतिक्रान्त साम्यवादी कहते हैं वे भी जब कोई सभा करते हैं तो उसमें एक सभापति अवश्य होता है। और उनकी सेना में भी सेनापति अवश्य होता है। सभापति और सेनापति की आज्ञा मानना सबके लिए आवश्यक होता है। और न माननेवाले को यथोचित दण्ड भी दिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि अधिकारों में साम्य कभी नहीं हो सकता। हाँ, योग्यता के बदले जन्मसिद्ध अधिकार अथवा श्रमसिद्ध अधिकार मानना अवश्य हानिकारक है।

इसका यह अर्थ नहीं कि जन्म अथवा श्रम का योग्यता के निर्णय में कोई स्थान नहीं। किन्तु इसका अर्थ यही है कि जन्म अथवा श्रम भी सदुपयोग की सम्भावना में सहायक हो सकते हैं। जिस मनुष्य ने आयुर्वेद की विद्या का अभ्यास किया है, उसके यहाँ यदि कई पीढ़ियों से यही कार्य चला आता हो तो उसकी योग्यता के बढ़ने की सम्भावना निस्सन्देह अधिक है। जिस मनुष्य ने कोई पदार्थ श्रम द्वारा उत्पन्न किया है उसके द्वारा दुरुपयोग की सम्भावना बहुत कम है, यह ठीक है। किन्तु अधिकार का निर्णायक सदुपयोग ही है इसमें अब कुछ सन्देह नहीं रहा। इससे स्पष्ट है कि बड़े-छोटे का भेद असह्य नहीं, किन्तु निराधार भेद असह्य है।

सदुपयोग की सबसे अधिक सम्भावना ज्ञान और आत्मसंयम के संयोग में है।

एक मनुष्य एक रोगी की सेवा कर रहा है। मान लीजिए कि माता अपने रोगग्रस्त बच्चे की सेवा कर रही है। वह निरन्तर जाग सकती है। जितना स्वार्थत्याग वह बच्चे के लिए कर सकती है, कौन करेगा? किन्तु वह नहीं जानती कि इस समय बच्चे के लिए क्या करना चाहिए। बच्चे के पेट में दर्द है।

परन्तु वह दीवार पर देवी का चित्र बना कर उसके सामने दिया जला रही है कि इससे बच्चे का कष्ट दूर हो जाय। बच्चे का रोग बढ़ता जाता है। बच्चे की पढ़ी-लिखी चाची उसे औषध देना चाहती है। माता नहीं देने देती। यहाँ माता अपने अधिकार का जो दुरुपयोग कर रही है, उसका कारण सदिच्छा का अभाव नहीं है, किन्तु अज्ञान है। इस अज्ञान के वशीभूत होकर मनुष्य-जाति ने न मालूम कितनी निरपराध स्त्रियों को चुड़ैल कहकर जीते-जी अग्नि के अर्पण किया है। सो अधिकार के दुरुपयोग का सबसे बड़ा कारण अज्ञान और सदुपयोग का सबसे बड़ा कारण सम्यग्ज्ञान है। यह स्पष्ट हो गया।

सदुपयोग का दूसरा आधार आत्म-संयम है। एक मनुष्य को वैद्य ने खटाई खाने से रोका है। वह पढ़ा-लिखा, साक्षर मनुष्य भली प्रकार जानता है कि इस समय खटाई खाना मेरे लिए विष के समान है। परन्तु वह जिह्वा के वशीभूत होकर खटाई खा लेता है। और रोग दूना बढ़कर उसके प्राण ले लेता है। यहाँ ज्ञान का अभाव नहीं है। किन्तु आत्म-संयम का अभाव है। बस, यह ज्ञान और आत्म-संयम का मेल सदुपयोग का जन्मदाता है।

इसी मौलिक सिद्धान्त को आधार मान कर वैदिक धर्म में वर्णव्यवस्था की रचना हुई है।

५. वैविध्य

इस सिद्धान्त के आधार पर वर्णव्यवस्था की रचना किस प्रकार हुई है, यह दिखाने से पहिले हम एक और बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। वह है वैविध्य। सब मनुष्यों में सब बातें एक समान नहीं हैं। फिर, जो बातें प्राणि-मात्र में समान भाव से पाई जाती हैं उनकी भी मात्रा समान नहीं है। कवि ने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च।
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्॥

अर्थात्, "भोजन, निद्रा, भय और नर-मादा का सहवास—ये पशु और मनुष्यों में समान हैं।"

प्राणि-मात्र में जो सामान्य बातें पाई जाती हैं उनका यह अच्छा परिगणन है। किन्तु आहार (भोजन) तथा निद्रा आदि भी सबमें समान मात्रा में नहीं पाए जाते। जहाँ प्रकार-भेद नहीं वहाँ मात्रा-भेद अवश्य है। इस अवस्था में, मानव-समाज के संगठन के लिए जो भी संविधान तैयार किया जाय

उसमें इस वैविध्य का ध्यान अवश्य रक्खा जाना चाहिए। गणित शास्त्र में यह बात स्वयंसिद्ध मानी गई है कि विषम में सम जोड़ने से विषम उत्पन्न होता है। जैसे—७, ६, ११ विषम हैं। इनमें २, २ जोड़ने से ७+२=६; ६+२=११; ११+२=१३ हुए। ये भी विषम हैं। यदि विषम को सम बनाना हो तो उनमें विषम जोड़ना पड़ेगा। जैसे—७+८=१५; ६+६=१५; ११+४=१५। आश्चर्य है कि समाज-शास्त्र के पण्डित सामाजिक सङ्गठन के समय इस स्वयंसिद्धि को भूल जाते हैं।

हम एक साधारण-सा दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। यदि २० मनुष्यों को एक पंक्ति में बैठा कर पाँच-पाँच लड्डू बाँट दिए जावें तो आपाततः यह व्यवहार समानता उत्पन्न करेगा। किन्तु यदि हम थोड़ा गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो हमने समानता नहीं विषमता उत्पन्न कर दी। हम देखेंगे कि थोड़ी देर के पश्चात् कई खाने-वालों के पास दो या तीन लड्डू बच गए, और कई एक भूखे रह गए। किन्तु यदि हम सबकी भूख का ठीक पता लगाकर पाँच की भूखवाले को पाँच, सात की भूखवाले को सात, तथा तीन की भूखवाले को तीन लड्डू दे देते तो स्थूल दृष्टि से पक्षपात होता, परन्तु

वास्तव में समानता उत्पन्न होती। जब सबको यथा-योग्य, भूख के अनुसार, लड्डू दिए गए तो बँटवारे में विषमता देखने में आती थी, परन्तु परिणाम में समानता हुई। यथा—

१. सब तृप्त हो गये।

२. किसी के पास कोई लड्डू नहीं बचा।

३. किसी के पास भूख नहीं बची।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बँटवारे में समानता परिणाम में विषमता उत्पन्न करती है। दूसरी ओर बँटवारे में विषमता परिणाम में समानता उत्पन्न करती है।

हाँ, एक तीसरा प्रकार भी है। जिसे तीन की भूख थी उसे एक लड्डू दिया जाय और जिसे एक की भूख थी उसे वीस लड्डू दे दिये जावें तो इस बँटवारे के परिणाम और भी भयङ्कर होंगे।

६. पूँजीवाद, साम्यवाद और वर्णव्यवस्था

बस, अब हम पूँजीवाद, साम्यवाद और वर्णव्यवस्था का भेद भली प्रकार समझ सकेंगे। इनमें भेद यह है—

(१) भूखों के लड्डू छीनकर भूख रहितों के पास लड्डुओं का ढेर लगा देना वर्तमान पूँजीवाद है।

(२) सबको समान लड्डू बाँट देना साम्यवाद है।

(३) सबको भूख के अनुसार लड्डू देना वर्ण-व्यवस्था है।

साम्यवाद अन्याय का विरोध करते समय ईर्ष्या को भी बीच में मिला देता है। और कहता है बड़ा-छोटा कोई नहीं सब समान हैं। वर्णव्यवस्था इस बात को स्पष्टतया स्वीकार करती है कि योग्यता और भूख में भेद होने के कारण अधिकारों में भेद होना आवश्यक है। किन्तु उसका आधार योग्यता ही होना चाहिये, जन्म नहीं।

७. वर्णव्यवस्था के तीन मौलिक सिद्धान्त

अब इन दो सिद्धान्तों को—

(१) सदुपयोग से अधिकार की उत्पत्ति, और,

(२) योग्यता और आकांक्षा में भेद

को मिलाने से वर्णव्यवस्था के तीन मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि होती है। वह सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

क. कौशल;

ख. शक्ति-प्रतिमान;

ग. यथायोग्य दक्षिणा।

क. कौशल

हरएक मनुष्य सब प्रकार के कार्यों में कुशल नहीं

हो सकता। विधाता ने हरएक मनुष्य को कोई-न-कोई समाज के लिए उपयोगी कार्य करने की शक्ति दी है। यदि वह सर्वज्ञ बनने का विफल प्रयास करने के बदले उस एक दिशा में अपनी शक्ति एकाग्र करे तो उसे जो सफलता हो सकती है, और, उसके द्वारा उसके और समाज के सुख में जो वृद्धि हो सकती है, वह अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सामान्य विषयों का थोड़ा-बहुत सामान्य ज्ञान रखते हुए भी अपनी एक विशेष दिशा में कौशल प्राप्त करने का यत्न अवश्य करना चाहिए।

भारतीय समाज-शास्त्रकारों ने यह कार्य तीन भागों में बाँट दिए हैं—

(१) प्राकृत पदार्थों को, शारीरिक श्रम तथा बुद्धि-कौशल द्वारा, मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी बनाकर मानव-समाज की दरिद्रता दूर करना। इस दिशा में कौशल प्राप्त करनेवाले वैश्य कहलाते हैं।

(२) काम, क्रोध, लोभादि मानव-स्वभाव-सुलभ दुर्बलताओं के कारण होनेवाले अन्याय को बलपूर्वक दूर करना, तथा, सद्व्यवहार को प्रचलित करना। इस दिशा में कौशल प्राप्त करनेवाले क्षत्रिय कहलाते हैं।

(३) मानव-समाज के लिये हितकारी सब प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने में तथा अविद्या के नाश में जीवन लगाना। इस दिशा में कौशल प्राप्त करनेवाले ब्राह्मण कहलाते हैं।

इन तीनों प्रकार के कार्यों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता अपेक्षित है। अतएव आहार, निद्रादि जिन बातों में सब लोग समान हैं उनमें भी मात्रा-भेद का विचार रखते हुए आवश्यकतानुसार आलम्बन पदार्थ सबको पहुँचाना, और, जिन अंशों में इन लोगों ने विविध मार्ग का ग्रहण किया है उन अंशों में उन्हें यथायोग्य अधिकार देना, इससे ही मानव-समाज का कल्याण हो सकता है।

किन्तु सबसे पहिली बात जो अपेक्षित है वह यही है कि प्रत्येक मनुष्य, इन तीनों में से वह किस विशेष कार्य को सबसे भली प्रकार सम्पादन कर सकता है इसका सूक्ष्म अन्वेषण स्वयं अथवा विशेषज्ञों की सहायता से करके, अपनी शाखा में अपनी शक्ति के अनुसार अधिक-से-अधिक कौशल प्राप्त करे।

यह कौशल (Specialisation) वर्णव्यवस्था का पहिला सिद्धान्त है।

ख. शक्ति-प्रतिमान

परन्तु इस प्रकार का कौशल प्राप्त करनेवाले मनुष्यों में परस्पर व्यवहार के नियम बनाना भी आवश्यक है।

हमने जो तीन कार्य ऊपर कहे हैं उनमें से ज्ञान की खोज और अज्ञान का दूर करना सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है। क्योंकि अन्याय के विरुद्ध लड़नेवाले तथा प्राकृत पदार्थों से सम्पत्ति उत्पन्न करनेवाले दोनों ही ज्ञान के बिना अन्धे हैं। ज्ञान इन दोनों को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु यह ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिए ज्ञान तथा आत्म-संयम का मेल रखनेवाले जितने व्यक्ति राष्ट्र इकट्ठे कर सकता है वे पहले इस वर्ग में जाने चाहिएँ। यदि किसी राष्ट्र में सबके सब व्यक्ति एक से प्रतिभाशाली तथा एक से संयमी हों तब तो वह बड़ा भाग्यशाली है। परन्तु जब तक वह दिन नहीं आता तब तक तो हमें बँटवारा करना ही पड़ेगा। जब बँटवारा करना है ही तो मानव-जाति के कल्याण के लिए हमें इस प्रकार की व्यवस्था अवश्य ही करनी चाहिए जिससे प्रेरित होकर मानव-जाति के श्रेष्ठतम मनुष्य इस कार्य की ओर झुकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि मानव-समाज इन्हें

ज्ञान-वृद्धि के लिए सुविधा तथा राष्ट्र में आदर अधिक-से-अधिक मात्रा में दे। यह ठीक है कि आत्म-संयम के अभ्यास में आदर की इच्छा का जीतना भी एक आवश्यक अंग है, और, इसी लिए इस वर्ग की साधना में यश के लोभ से बचना भी एक आवश्यक अंग है। किन्तु सब समाज के श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ तथा प्रतिभाशाली-से-प्रतिभाशाली बालकों को इस कार्य की ओर जाने के लिए प्रेरित करने के निमित्त राष्ट्र इस वर्ग का सबसे अधिक मान करे। यह ठीक है कि यह मान की भूख इस वर्ग को नहीं होनी चाहिए। परन्तु जो अपनी प्रतिष्ठा नहीं चाहते उनकी और भी अधिक प्रतिष्ठा करके राष्ट्र अपने हर एक व्यक्ति को इस गुण के धारण करने की प्रेरणा करता है। दूसरे, यद्यपि अभ्यास करते-करते मनुष्य इस प्रतिष्ठा के लोभ को भी जीत लेते हैं, किन्तु यह बात बालकपन से ही सबको सिद्ध नहीं होती। यदि राष्ट्र के सबसे अधिक प्रतिभाशाली बालक, आरम्भ में प्रतिष्ठा के लोभ से भी, इस वर्ग की ओर खिंचे चले आवें और पीछे से अपने नेताओं की संगति से वे प्रतिष्ठा के लोभ को भी जीत लें, तो भी समझना चाहिए कि राष्ट्र को यह सौदा मँहगा नहीं पड़ा।

परन्तु याद रखना चाहिए कि आत्म-संयम की भी

सीमा है। जहाँ वर्गीकरण के न होने से कौशल उत्पन्न नहीं होता, तथा, वर्ग के साथ यथोचित व्यवहार न होने से वह वर्ग फलता-फूलता नहीं, वहाँ मर्यादा से अधिक शक्ति किसी भी वर्ग के हाथ में आ जाने से वह वर्ग पतित हुए विना नहीं रह सकता। इसी लिए भारतीय समाज-शास्त्रकारों ने किसी एक वर्ग के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति नहीं आने दी।

विद्या-व्यसनी वर्ग को उन्होंने गौरव दिया है। किन्तु धन-सञ्चय, ऐश्वर्य-भोग तथा राज्य-शासन का अधिकार उनसे छीन लिया है। अन्याय के साथ लड़ने में प्राणों की आहुति करनेवालों के हाथ में शासन की बागडोर दी है। उन्हें प्रभुत्व दिया है तो उन्हें आदर विद्या-व्यसनियों से कम दिया है। और लक्ष्मी सम्पत्ति के निर्माताओं से कम दी है। सम्पत्ति उत्पन्न करनेवालों को ऐश्वर्य-भोग दिया है तो उन्हें गौरव और प्रभुत्व नहीं दिया है। यदि ऐसा न करें तो कोई एक वर्ग सम्पूर्ण शक्ति प्राप्त होने से दूसरों पर अत्याचार किए विना न रहे।

यूरोप के लोगों ने इस विषय में सब प्रकार के परीक्षण किए हैं।

जिस समय यूरोप में पोप की सत्ता की धाक थी

उसे हम ब्राह्मण-राज्य का युग कह सकते हैं। किन्तु प्रतिष्ठा, राज्य-शक्ति और धन, सब एक स्थान में इकट्ठा हो जाने के कारण अन्याय तथा अत्याचार हुए। जिनके विरुद्ध लूथर की क्रान्ति हुई।

उसके पश्चात् यूरोप में फ्यूडल-सिस्टम अथवा सामन्त-राज्य का युग आया। इस युग को अन्धी क्षत्रिय-शक्ति का युग कहा जा सकता है। इस युग के अत्याचारों की समाप्ति फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के साथ हुई।

उसके पश्चात् स्टीम एंजिन तथा विद्युत् के प्रयोग के उदय के साथ वर्त्तमान पूँजीवाद का उदय हुआ। यह वैश्य-साम्राज्य का युग है। दरबार में सबसे अधिक आदर है तो उसका जो सबसे अधिक आय-कर (Income Tax) देता है। राज्य में अधिकार है तो उसका जो धन के बल से सबसे अधिक मत (Votes) खरीद सकता है। सांसारिक भोग-विलास की सामग्री का तो पूछना ही क्या। परिणाम स्पष्ट है। आज धनपति जिस प्रकार चाहें न्याय को खरीदें। न्याय बेचनेवालों के विरुद्ध राज-नियम कड़े-से-कड़े बनाने पर भी इस रोग का निवारण नहीं हो सकता। क्योंकि न्याय बेचनेवालों का न्याय करने-

वाले भी यह न्याय बेचनेवाले ही हैं। जब तक प्रतिष्ठा को धन से पृथक् नहीं किया जायगा यह रोग कभी दूर न होगा।

इस प्रकार हमने देखा कि ब्राह्मण गौरव के बल से क्षत्रियों को मर्यादा में रक्खें। क्षत्रिय शासन के बल से ब्राह्मणों को मर्यादा में रक्खें। और वे दोनों मिलकर धनशक्ति को मर्यादा में रक्खें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की शक्ति का दुरुपयोग न होने देने के लिए, एक के मुकाबले की शक्ति दूसरे वर्ग को देना, जिससे वह सब शक्तियाँ तुली रहें, इस सिद्धान्त का नाम शक्ति-प्रतिमान है।

ग. यथायोग्य दक्षिणा

ऊपर के दोनों सिद्धान्तों में यह दिखाया गया है कि समाज अथवा राष्ट्र को इस व्यवस्था से क्या लाभ है, तथा, सामाजिक हित की दृष्टि से वर्णव्यवस्था किस प्रकार की योजना है। किन्तु अन्ततोगत्वा सामाजिक नियम व्यक्ति के सुख के लिए ही तो बनाए जाते हैं। अतः व्यक्ति की दृष्टि से वर्णव्यवस्था हरएक व्यक्ति को "आलम्बन पदार्थों" के रूप में सामान्य दक्षिणा के अतिरिक्त यथायोग्य विशेष दक्षिणा भी देने का प्रबन्ध करती है।

प्रश्न हो सकता है कि संसार-भर की सब ही सामाजिक व्यवस्थाओं का उद्देश्य यही है, वर्णव्यवस्था में कौन-सी विचित्रता है? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कहना है कि अब तक दक्षिणा देने के जितने प्रकार नियत किए गए हैं उनमें धन ही एक-मात्र साधन माना गया है। योग्यतानुसार धन की मात्रा कम अथवा अधिक देकर हम सन्तुष्ट हो जाते हैं कि हमने यथायोग्य दक्षिणा दे दी। किन्तु केवल मात्रा-भेद से सन्तुष्टि नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति के लिए जो वस्तु उपयोगी नहीं है, वह किसी मात्रा में भी उपयोगी नहीं है। अपने शरीर को ही दृष्टान्त समझ लीजिए। पेड़ा रसना (जीभ) के लिए उपयोगी है। किन्तु आँख, नाक, कान के लिए जो मूल्य एक पेड़े का है वही पेड़ों के एक थाल का है। इसी प्रकार संगीत कान की दक्षिणा है। किन्तु रसना तथा नासिका के लिए गधे के रेंकने से लेकर संसार के सबसे सुरीले कण्ठ की काकली तक सब व्यर्थ हैं। इसी प्रकार फूल नासिका के लिए उपयोगी हैं। परन्तु कान के लिए एक से लेकर विशाल हार तक सब फूल निरर्थक हैं। यहाँ मात्रा-भेद नहीं, किन्तु प्रकृति-भेद है। ठीक इसी प्रकार मनुष्यों की मानसिक रचना में भी भेद है। एक

विद्या-व्यसनी के लिए धन का मूल्य उसकी विद्योन्नति की सामग्री है। एक यशो-धन क्षत्रिय के लिए विशाल वैभव के सामान निरर्थक हैं। संसार में सत्य-धन, तपो-धन, यशो-धन, आदि अनेक प्रकार के मनुष्य हैं। सबको सोना-चाँदी के मूल्य में दक्षिणा देना उपहास-मात्र है।

उत्तर में कहा जा सकता है कि धन द्वारा सत्य-धन व्यक्ति सत्य की खोज की सामग्री, यशो-धन यशोवृद्धि की सामग्री, तपोधन सेवा की सामग्री मोल ले सकता है। फिर क्यों न धन को ही दक्षिणा का साधन बनाया जाय? किन्तु ऐसा पूछनेवाले यह भूल जाते हैं कि ऐसा करने से संसार में धन का गौरव सबसे अधिक बढ़ जाता है। और शक्ति-प्रतिमान में बाधा होती है।

यदि ब्राह्मण को जिज्ञासुओं की मण्डली और ज्ञान-वृद्धि के साधन सीधे इसलिए मिल जावें कि उसने अपना जीवन मानव-जाति की ज्ञान-वृद्धि के निमित्त अर्पण किया है तो एक तो धन का गौरव नहीं बढ़ता। दूसरे इसमें चोरी तथा धोखे की सम्भावना कम हो जाती है। एक मनुष्य जब यह देखता है कि विद्या, चरित्र आदि के बिना भी वह धन के आधार पर पूजा,

शासनाधिकार आदि सब-कुछ पा सकता है तो उसकी प्रवृत्ति चोरी, लूट, धोखा आदि की ओर होने की अधिक सम्भावना है। परन्तु विद्या तथा चरित्र तो चुराए नहीं जा सकते। इसलिए जब समाज में सबसे ऊँचा स्थान धनहीन चरित्र तथा विद्या को मिलेगा तो चोरी स्वयं बहुत कम हो जायगी।

इसलिए ब्राह्मण को ज्ञान-वृद्धि के साधन तथा पूजा दी गई। क्षत्रिय को शासनाधिकार दिया गया। वैश्य को सांसारिक वैभव दिया गया। यही उनकी यथायोग्य दक्षिणा है। इसी की प्राप्ति के लिए उन्होंने अपने-अपने वर्ण का वरण (चुनाव) किया है।

५

मार्क्सवाद तथा वर्णव्यवस्था

यद्यपि सामाजिक सङ्गठन की अनेक व्यवस्था इस समय तक विद्वानों ने उपस्थित की हैं। किन्तु इस ग्रन्थ में हमें मार्क्स के समाजवाद के साथ ही तुलना करनी है। क्योंकि वही एक ऐसा वाद है जिसे क्रियात्मक रूप देकर रूस ने उसमें जान डाल दी है। और, संसार-भर के विचारकों और विशेषकर शारीरिक श्रमजीवियों का ध्यान इसकी ओर विशेष आकृष्ट हुआ है। विशेषकर शारीरिक श्रमजीवी वर्ग के लिए तो यह इस समय उन्माद का रूप धारण कर चुका है।

इस तुलना के लिए एक बार हमें उन कसौटियों

का दोहरा देना आवश्यक है जिनके आधार पर हम निर्णय करना चाहते हैं। हमें देखना है कि इन दोनों व्यवस्थाओं में से

(१) किसमें "आलम्बन पदार्थ" सबको (श्रम करने से इन्कार करनेवालों को छोड़कर) प्राप्त हो जाते हैं;

(२) किसमें अधिकारों का अधिक-से-अधिक सदुपयोग होता है;

(३) किसमें अनुग्रह तथा निग्रह दोनों की ठीक व्यवस्था है, अर्थात् किसमें कार्य न करनेवालों को अधिक-से-अधिक भय तथा करनेवाले को अधिक-से-अधिक आत्म-विकास के लिए उत्साह प्राप्त होता है।

हमें यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं कि वर्तमानकाल में प्रचलित सम्पूर्ण सामाजिक सङ्गठनों में से मार्क्सवादी सङ्गठन में आलम्बन पदार्थों के सबके लिए अधिक-से-अधिक सुलभ होने की सबसे अच्छी व्यवस्था है। जब राष्ट्र ने पदार्थों की उत्पत्ति के हरएक साधन पर कब्जा कर लिया तो निरर्थक उत्पत्ति को रोकना उनके लिए अत्यन्त सुखसाध्य हो गया। साथ ही बँटवारे का अन्याय भी निस्सन्देह दूर हो जायगा, विशेषकर उन स्थूल पदार्थों के बँटवारे का जो

तोले और नापे जा सकते हैं। क्योंकि अब पदार्थों का बाँटना केवल-मात्र व्यक्ति की इच्छा पर अवलम्बित नहीं रह जाता। यही कारण है कि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों ने एक बार संसार की व्यवस्था को जड़ों से हिला दिया। तथा उसके विरोधियों को भी श्रम-जीवियों के कष्ट-निवारण तथा सुखवृद्धि के उपाय वैसे ही करने पड़े जैसे रूस में मार्क्स के अनुयायियों ने किए। जहाँ अभी तक ऐसा नहीं हुआ, वहाँ भी श्रमजीवी धीरे-धीरे जाग रहे हैं। और, एक घोर परि-वर्तन अवश्यम्भावी है।

किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम भविष्य में ज्ञानवृद्धि के सम्बन्ध में आँख मूँद लें और यह समझ लें कि मार्क्सवादियों की व्यवस्था में अब और किसी सुधार का अवकाश ही नहीं। जहाँ मार्क्सवाद की व्यवस्था में आहार, परिच्छदादि सबको मिलने की व्यवस्था है, वहाँ इसका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता कि मार्क्सवाद का मुख्य आधार भय है। जो काम न करे उसे भयभीत करो। यहाँ तक कि प्राण-दण्ड दे दो। इसी पर मार्क्सवाद का अधिक बल है। यही कारण है कि मार्क्सवादी अन्याय के विरुद्ध आन्दोलन उठाने में ईर्ष्या को बहुत उभारते हैं। जहाँ

तक अन्याय के विरुद्ध न्याय की भावना को उत्तेजित किया जाय वहाँ तक तो मानव-समाज की कोई हानि नहीं। किन्तु ईर्ष्या तो एक ऐसी राक्षसी है जिसकी भूख ब्रह्माण्ड को भी निगल कर समाप्त नहीं होती। अन्याय की समाप्ति न्याय से हो जाती है। किन्तु ईर्ष्या की समाप्ति कहीं नहीं। सम्भव है कि मार्क्सवादी इस आक्षेप को सुनकर एकदम गर्म हो उठे। किन्तु सत्य तो सत्य है। वह तो कहना ही पड़ता है। देखिए इस विषय में बरट्रैण्ड रस्सल (Bertiand Russel) क्या लिखते हैं—

*The instability of social status in the modern world and the equalitarian doctrines of democracy and socialism have greatly extended the range of envy .... . Our age is therefore one in which envy plays a peculiarly large part. The poor envy the rich, the poorer Nations envy the richer nations, women envy men, virtuous women envy those who, though not virtuous, remain unpunished. While it is true that envy is

* आज के ससार में, सामाजिक स्थिति की अस्थिरता तथा प्रजातन्त्र और समाजवाद के समानतावादी सिद्धान्तों ने ईर्ष्या का बहुत विस्तार कर दिया है। हमारा समय, इसलिए, वह समय है जिसमें ईर्ष्या बहुत विशेष स्थान रखती है। निर्धन धनियों से ईर्ष्या करते हैं, निर्धन जातिएँ धनी जातियों से ईर्ष्या करती हैं, स्त्रियें पुरुषों से ईर्ष्या

the chief motive force leading to justice as between different classes, different nations, and different sexes, it is at the same time true that the kind of justice to be expected as a result of envy is likely to be the worst possible kind, namely that which consists rather in diminishing the pleasures of the fortunate than increasing those of the unfortunate Passions which work havoc in private life work havoc in public life also It is not to be supposed that out of something as evil as envy good results will follow Those therefore who from idealistic reasons desire profound changes in our social system and a great increase of social justice must hope that other forces than envy will be instrumental in bringing the changes about

(*Bertrand Russel in Conquest of Happiness P. 90 & 91*)

करती हैं, सती स्त्रियें उन असती स्त्रियों से ईर्ष्या करती हैं जो, दुराचारिणी होकर भी, अदण्डित रहती हैं। यद्यपि विभिन्न वर्गों, जातियों और स्त्री-पुरुषों में न्याय स्थापित कराने के लिए ईर्ष्या एक मुख्य प्रेरक भाव है, तो भी ईर्ष्या से प्राप्त होनेवाला न्याय सबसे बुरी श्रेणी का न्याय है। यह न्याय भाग्यशीलों का सुख जितना कम करता है उतना अभाग्यशीलों का सुख नहीं बढ़ाता। जो मनोविकार वैयक्तिक जीवन में तबाही मचा देते हैं, वे सामाजिक जीवन में भी तबाही मचाते हैं। ईर्ष्या जैसी बुरी चीज से अच्छे परिणामों की आशा नहीं रखी जा सकती। जो लोग आदर्शवादिता के कारण वर्तमान सामाजिक रचना में गहरे परिवर्तन चाहते हैं और न्याय को बढाना चाहते हैं उन्हें ईर्ष्या के स्थान में दूसरी भावनाओं को कार्य में साधन बनाना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मनु ने अवनति के जो दो कारण

(१) "अपूज्या यत्र पूज्यन्ते" (अपूज्यों की पूजा)

(२) "पूज्यानाञ्च व्यतिक्रमः" (पूज्यों की अपूजा)

बताए हैं, उनमें से "अपूज्यों की पूजा" के निवारणार्थ तो मार्क्सवाद ने पूरा बीड़ा उठाया है। किन्तु "पूज्यों की पूजा" सिखाने में वह दुर्बल है। यही कारण है कि मार्क्स, लेनिन आदि महात्माओं के अनुयायी प्रायः असभ्य, कटुवादी, तथा, पगड़ी-उछाल और गुस्ताख होते हैं। इस उच्छृङ्खलता रोग से बचने के लिए महात्मा लेनिन को विशेष उद्योग करना पड़ा था। महात्मा लेनिन के जीवन-चरित्र में हम पढ़ते हैं—

"The staff officers felt injured; their Commander came to Lenin's room to resign.

"Blazing with wrath, the Head of the Govrnment shouted at him; "We shall have you shot; I order you to go on with your work and not disturb me at mine."

लेनिन को सब शासन-सूत्र अपने हाथ में लेते देखकर उसके स्टाफ-आफिसर विगड़ उठे थे। वे ईर्ष्या से जल उठे थे। उस समय का यह वर्णन है। उद्धरण का शब्दार्थ यों है—

"स्टाफ आफिसरों ने अपना अपमान समझा। उनका नायक त्यागपत्र देने के लिए लेनिन के कमरे में आया।

"गुस्से से जलते हुए लेनिन ने चिल्लाकर उससे कहा—हम तुम्हें गोली से उड़ा देंगे। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि जाकर अपना काम करो और मेरे काम में बाधा मत डालो।"

अपनी पूजा अर्थात् अपनी आज्ञाओं का पालन कराने के लिए लेनिन को कितना कठोर होना पड़ता था!

जहाँ "अपूज्यों को दण्ड" देने से वह भयभीत होते हैं, वहाँ "पूज्यों की पूजा" से प्रजा में उत्साह की वृद्धि होती है। किन्तु यही दूसरा अंश है जिसमें मार्क्सवाद दुर्बल है।

इसकी दुर्बलता का एक और कारण ममता का समूल नाश है। हम पहिले ही दिखा आए हैं कि मनुष्य चार प्रकार के हैं—

(१) निष्काम सेवक महात्मा,
(२) सकाम सेवक सामान्य लोग,
(३) स्वार्थान्ध राक्षस, और,
(४) निष्काम दुष्ट।

अब इनमें महात्माओं को छोड़ दीजिए। किन्तु साधारण मनुष्य जहाँ निरङ्कुश शक्ति पाने पर अत्याचारी हो जाते हैं वहाँ निष्काम कर्म करने में उत्साहहीन हो जाते हैं। जब तो पापियों को दण्ड देने तथा पूँजी-वादियों से अधिकार छीनने का प्रश्न उठता है तब तो मार्क्सवादी मनुष्य-मात्र को प्रच्छन्न राक्षस के रूप में देखते हैं। किन्तु जब श्रम का पुरस्कार देने का समय आता है तो वे मनुष्य-मात्र को निर्मम, निरहङ्कार, समदु:ख-सुख, महात्मा मान लेते हैं। यह परस्पर विरोध ही मार्क्सवाद के सबसे दुर्बल अङ्ग हैं।

जहाँ निरङ्कुश, कुलपरम्परागत अधिकार मानने के कारण पौराणिक संसार भय का समूलनाश कर देता है वहाँ मार्क्सवाद ममता का नाश करके साधारण मनुष्यों को बिल्कुल उत्साहहीन बना देता है। इसके विपरीत वर्णव्यवस्था में सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार तथा समाज के अधिकार का उचित समन्वय है।

पौराणिकों का कथन है, क्योंकि उत्तम कुल में

उत्पन्न होनेवाले कुछ पुरुष उस अधिकार का सदुपयोग करते हैं इसलिए उन कुलों में जो दुष्ट हैं उन्हें भी अधिकार दे दो। इसके विपरीत मार्क्सवादी कहते हैं, क्योंकि कुछ मनुष्य इन अधिकारों का दुरुपयोग करते हैं इसलिए सदुपयोग करनेवालों के भी अधिकार छीन लो। यह दोनों ही वाद हेत्वाभास पर अवलम्बित हैं।

समन्वय का मार्ग तो इस प्रकार है कि जो सदुपयोग करे उसका अधिकार रहने दो, किन्तु दुरुपयोग करनेवाले के अधिकार छीन लो। अर्थात् "सबके साथ प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य बर्तो * ।" बस हम, न साम्यवादी हैं न उत्तराधिकारवादी। हम हैं यथायोग्यवादी।

इस प्रकार दोनों पर एक तुलनात्मक दृष्टिपात करने के पश्चात् हम वर्णव्यवस्था तथा मार्क्सवाद को पूर्वोक्त कसौटियों पर कसते हैं।

हमारी प्रथम कसौटी यह है कि आलम्बन पदार्थ

---

* ऋषि दयानन्द ने, वेद-शास्त्रों के आधार पर, आर्यसमाज का सातवाँ नियम यह रखा है—"सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बरतना चाहिये।"

सबको प्राप्त हो जावें। इसमें वर्तमान युग में प्रचलित सब व्यवस्थाओं की अपेक्षा यह गुण मार्क्सवाद में सब से अधिक है। यह मानने पर भी हम मार्क्सवाद को वर्णाश्रम-व्यवस्था के सामने इस अंश में भी हीन पाते हैं। उदाहरण के लिए सबसे प्रथम आलम्बन पदार्थ ज्ञान अथवा विद्या को ही ले लीजिए। एक ओर विद्या-दान का एक-मात्र साधन राष्ट्र से वेतन पानेवाले अध्यापक हैं। दूसरी ओर एक ऐसी श्रेणी है जिन्होंने बालकपन से ही विद्या को अपने जीवन का ध्येय बनाया है। और इस श्रेणी की सहायता के लिए, राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति भी, जिसे अक्षर-मात्र का भी ज्ञान है, वानप्रस्थाश्रम में, इस श्रेणी के साथ मिलकर राष्ट्र की विद्या की समस्या को सुलझा रहा है। प्रथम तो किसी भी राष्ट्र के पास इतना धन आना कठिन है कि वह केवल वेतन-भोगियों के सहारे सारे राष्ट्र के बालकों को सुशिक्षित कर सके। फिर इन दोनों के कार्य में वही भेद है जो एक पहलवान में तथा एक मजदूर में है। शारीरिक-श्रम दोनों एक-सा करते हैं। किन्तु पहलवान का शरीर सुडौल और शक्तिसम्पन्न हो जाता है। दूसरी ओर मजदूर में वह बात देखने में नहीं आती। किम्बहुना, यह बात हम सब जानते हैं कि जितने बढ़िया

काम करनेवाले हैं वह विश्वास और प्रेम के बल से जितना कार्य कर सकते हैं उतना लोभ अथवा भय से नहीं। किन्तु मार्क्सवाद में इस स्वेच्छा से दान को बहुत कम स्थान है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्णव्यवस्था में वेतनभोगियों को भी स्थान है तथा स्वेच्छा से कार्य करनेवालों को भी। तथा उसमें विशेष बल इस बात पर दिया जाता है कि जहाँ तक हो सके मनुष्यों को ऐसी शिक्षा दें कि वह ममता को रखते हुए भी स्वेच्छा से दान दें। किन्तु मार्क्सवाद में अधिक बल दण्ड पर है। जो गाय स्वयं दूध देना चाहती है उसे डॉट-डपट कर उससे दूध क्यों लिया जाय ?

दूसरी बात यह है कि ममता को यथोचित स्थान मिलने से उत्तम कोटि के पदार्थों की उत्पत्ति अधिक बढ़ जाती है। मान लीजिये कि अपने-आपको नौकर मानते हुए एक मनुष्य ने एक लाख मन अनाज उत्पन्न किया। और राष्ट्र ने उससे ९९ सहस्र मन छीन लिया। तो राष्ट्र के पास ९९ सहस्र मन आया। दूसरी ओर यदि उसे यह ज्ञान हो कि सम्पत्ति उसकी है, और, वह दो लाख मन उत्पन्न करे, तो ५० सहस्र मन अपने पास रखने पर भी वह राष्ट्र को १५०००० मन दे सकता है। इस प्रकार उसे नौकर बनाने से राष्ट्र को पहले ९९०००

मन अनाज मिला था। और अब १,५०,००० मन मिलता है। ममता निकालकर खाली नौकर बनाने से राष्ट्र ५१ सहस्र मन के घाटे में रहता है।

यह तो हुआ स्थूल गेहूँ आदि पदार्थों के सम्बंध में। अब कांव्य, चित्र-कला, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के सम्बन्ध में भी यही बात है। कार्यकर्त्ता को जितना आदर तथा साधन सामग्री अधिक मिलेगी, तथा कार्य करने की जितनी अधिक स्वतन्त्रता होगी उतना ही अधिक वह कार्य अच्छा कर सकेगा। और यदि उसे यह विश्वास हो कि मै अपने अपरिपूर्ण स्वप्न किसी योग्य उत्तराधिकारी द्वारा भी पूर्ण करने का अधिकार रखता हूँ तो उसका उत्साह और भी अधिक बढ़ेगा। यह ठीक है कि उत्तराधिकारी योग्य है अथवा अयोग्य इस विपय में समाज को भी अपनी सम्मति देने का अधिकार है। अथवा सच पूछिए तो इसका अन्तिम अधिकार है ही समाज को। परन्तु समाजवादियों ने व्यक्ति के इस अधिकार को सर्वथा निर्मूल करके मानव-स्वभाव सुलभ एक बड़े भारी उत्साह के उद्दीपक का नाश कर दिया है।

ममता के नाश की अपेक्षा उसे रखने में अधिक लाभ है इसका एक और उदाहरण ले लीजिए। समाज-वादी चाहेगा कि बच्चे दाइयों द्वारा पाले तथा बड़े किये

जावें। वह नर्सों को मा बनाना चाहेगा। वर्ण-व्यवस्था में हरएक मा को एक अच्छी नर्स बनाने का यत्न किया जायगा। इन दोनों के भेद को स्पष्टतया देख लीजिए। हमें देखना चाहिए कि हरएक स्त्री क्या एक-सी नर्स अथवा दाई बन सकती है। इसके दो ही उत्तर हो सकते हैं हाॅ अथवा नहीं। अब यदि इसका उत्तर नहीं में है तो सबको एक-सी नर्स न मिलने से विषमता आ जायगी। और यह निश्चय करना कठिन हो जायगा कि अच्छी नर्स किसे मिले। यदि इसका उत्तर हाॅ में है तो सब माताओं को एक-सी धात्री बना देने से यह विषमता दूर ही हो जायगी। अब रहा मातृ-प्रेम का प्रश्न। सो यह लगभग सब माताओं में एक-सा होता है। इसलिए हरएक बालक को उसकी स्वाभाविक माता के पास रखकर पालना तथा हरएक माता को शिशु-पालन की उचित शिक्षा तथा सामग्री देना ही ठीक उपाय है। समाजवादियों का कहना है कि इससे ममता की मात्रा अत्यन्त बढ़ जाती है और इससे समाज के हित की हानि होती है। किन्तु इसका प्रतीकार वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्याश्रम द्वारा किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में, बच्चे जिस आयु में उन्हें मातृ-प्रेम की अत्यन्त अपेक्षा होती है उससे निकल जाने पर, माता

पिता से पृथक् करके, गुरु के अर्पण कर दिये जाते हैं। इस प्रकार मातृ-प्रेम से जो लाभ प्राप्त हो सकते हैं वह तो प्राप्त हो जाते हैं परन्तु उससे होनेवाली हानियें नहीं होतीं।

इसके अतिरिक्त समाजवादी विचार-परम्परा में एक और हानि सन्तान के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व की भावना का नाश है। यदि एक मनुष्य को यह विश्वास हो जाय कि संतान के पालन-पोषण में उसका उत्तरदायित्व कुछ भी नहीं तो राष्ट्र के गले एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे बच्चों की पड़ जायगी जिसे कालान्तर में सँभालना भी कठिन हो जाय।

यदि एक शब्द में कहना हो तो व्यक्ति के अधिकारों के ह्रास के साथ व्यक्ति की कर्त्तव्यबुद्धि का ह्रास भी अवश्यम्भावी है। इसमें लोगों के उत्तरोत्तर समाज के आश्रय की ओर ताकने का, और, आत्मनिर्भर की न्यूनता का भय निरन्तर रहेगा। जिस प्रकार भाग्यवादी सदा विधाता की ओर तथा राजतन्त्र-राज्य में सब राजा की ओर ताकते रहते हैं, समाजवादी व्यवस्था में सब समाज की ओर ताकने के अभ्यासी हो जावेंगे। यह व्यक्ति और समाज का, त्वष्टा और इन्द्र का, युद्ध आज का नहीं सदा से चला आया है। और इसके

आदर्श समन्वय में ही मानव-समाज का कल्याण है। वह आदर्श समन्वय वर्णव्यवस्था में ही है। क्योंकि इसमें न तो पूँजीवाद की तरह व्यक्ति का निरङ्कुश अधिकार है और न समाजवाद की तरह उसके अधिकारों का समूलनाश है। इसमें व्यक्तियों के अधिकारों को स्वीकार करते हुए भी उस पर कठोर अंकुश रक्खा गया है। समाजवाद तलवार से व्यक्ति के अधिकार-रूपी हाथी की गर्दन काटता है। पूँजीवाद उसे मदान्ध हाथी की तरह चारों ओर विध्वंस-काण्ड मचाने की स्वतन्त्रता देता है। किन्तु वर्णव्यवस्था इस हाथी को अंकुश से वश में लाकर प्रजा का कल्याण करती है। यही समन्वय वर्णव्यवस्था की विशेषता है।

इस प्रकार समन्वय रूप से वर्णव्यवस्था तथा समाजवाद की तुलना करके हम वह क्रियात्मक उपाय बताते हैं जिनसे वर्णव्यवस्था में आलम्बन पदार्थ सबको प्राप्त हो जावेंगे—

(१) "श्रद्धया देयम्" अर्थात् समाज में सर्वस्व त्यागियों को सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त करते देखकर लोग स्वयं ही अपनी कमाई का बड़ा भाग दान करेंगे।
(२) राज्य की ओर से नियम होगा कि श्रमजीवियों को नियत सुविधाएँ अवश्य दी जावें। और जो

पूँजीपति वह सुविधाएँ न देगा अथवा उनके साथ दुर्व्यवहार करेगा, अथवा श्रमजीवियों के भाग में से छीनेगा, उसकी सम्पत्ति छीन ली जायगी। वर्तमान निरंकुश पूँजीवाद में यह व्यवस्था नहीं है। यदि इस प्रकार की व्यवस्था में धनपति का व्यवहार अपने श्रमजीवियों के साथ उससे भी अच्छा हो जैसा वर्तमान रूस में है तो फिर उसकी सम्पत्ति क्यों छीन ली जाय इसका कोई कारण नहीं समझ में आता।

(३) कर द्वारा पूँजीपतियों के धन का बहुत बड़ा भाग प्रजा के हित में लगाया जायगा।

इस प्रकार—(१) दान, (२) भय, और, (३) कर इन तीन साधनों द्वारा समाज के हित का, तथा, सम्पत्ति की ममता तथा उत्तराधिकार के अधिकार द्वारा व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करके उसके अधिकारों का, दोनों का, समन्वय किया गया है।

कहा जा सकता है कि इस प्रकार भी व्यक्ति के अधिकार घटते-घटते लगभग वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ समाजवादी पहुँचाना चाहते हैं। फिर इन दोनों में अन्तर क्या है? इसका उत्तर है—आत्म-सम्मान की रक्षा। यदि एक चतुर प्रबन्धकर्ता, अपनी सेवा के

बदले में इतना सम्मान प्राप्त करके कि वह अपने कारखाने का स्वामी है, पहिले की अपेक्षा दस गुना कार्य करे, तथा, श्रमजीवियों के हित में अपनी जान लड़ा दे तो यह सौदा मँहगा नहीं है। आत्म-सम्मान का मूल्य क्या है यह वही जानते हैं जिनके आत्म-गौरव पर कभी आघात पहुँचा है। वर्णव्यवस्था में छोटे-से-छोटा श्रमजीवी भी अपने घर का स्वामी है। और समाजवाद में बड़े-से-बड़ा विभाग का अध्यक्ष भी एक भृत्य-मात्र है। यही इन दोनों का भेद है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि

मार्क्सवाद में	वर्णाश्रम-व्यवस्था में
(१) भोजन वस्त्रादि आलम्बन पदार्थ पर्याप्त मात्रा में सबको मिल सकेंगे।	(१) भोजनवस्त्रादि आलम्बन पदार्थ पर्याप्त मात्रा में तथा उत्कृष्टतर कोटि के सबको मिल सकेंगे।
(२) व्यक्ति के अधिकारों का नाश होने के कारण पदार्थ कम मात्रा में और निचली कोटि के पैदा होंगे।	(२) व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के कारण पदार्थ अधिक मात्रा में तथा उत्कृष्टतर कोटि के पैदा होंगे।

(३) दण्ड का भय होने के कारण बँटवारे में अत्याचार न हो सकेगा तथा श्रमजीवियों का शोषण न होगा।

(४) उचित पारितोपिक न मिलने से सामान्य मनुष्यों में उत्साह मन्द रहेगा।

(३) क्षत्रियों के दण्ड-भय और ब्राह्मणों के सदुपदेश से बँटवारे में अत्याचार न हो सकेगा तथा श्रमजीवियों का शोषण न होगा।

(४) ममता और उत्तराधिकार की उचित रक्षा (निरंकुश नहीं) के कारण सामान्य मनुष्यों के उत्साह का भी अधिक-से-अधिक विकास होगा।

दूसरे शब्दों में, मार्क्सवाद में मन्दोत्साह उत्पत्ति+बल-पूर्वक बँटवारा है। वर्णव्यवस्था में पूर्णोत्साह उत्पत्ति+यथासम्भव स्वेच्छा-पूर्वक बँटवारा है।

इस प्रकार वर्णव्यवस्था के पक्ष में उत्साह और स्वेच्छा-पूर्वकता अधिक रहे यही इसकी विशेपता है। फिर आश्रम-व्यवस्था द्वारा उत्तम मनुष्यों की उत्पत्ति इसमें मिल जाने से वर्णाश्रम-व्यवस्था का दर्जा मार्क्सवाद की अपेक्षा अत्यन्त ऊँचा हो जाता है।

६

आश्रम-व्यवस्था

१. ब्रह्मचर्याश्रम

आश्रम-व्यवस्था का मूलाधार ऋतु-परिवर्तन है। यदि मनुष्य की अवस्था जन्म से लेकर मरण पर्यन्त एक रस रहे तो उसे किसी आश्रम-व्यवस्था की अपेक्षा नहीं। परन्तु हम देखते हैं कि उसकी सारी आयु एक रस नहीं रहती। पहिले ५ वर्षों में जिस तीव्र वेग से उसके शरीर की वृद्धि होती है वैसी अगले ५ वर्षों में नहीं होती। पहिले १८ वर्षों में जैसी उसकी वृद्धि होती है वैसी अगले ७ वर्षों में नहीं होती। और २५ वर्ष के पश्चात् उसकी अवस्था लगभग टिक-सी जाती

है। और ४० वर्ष तक इसी प्रकार रहती है। हाँ, इस समय में उसका मस्तिष्क अवश्य विकास करता है। फिर ४० वर्ष के पश्चात् मस्तिष्क में भी परिवर्तन वंद-से हो जाते हैं। काम की अपेक्षा वात्सल्य की ओर उसका अधिक झुकाव हो जाता है। और, अतएव दादा और दादी, पोते और पोतियों से, उनके माता-पिता की अपेक्षा, अधिक लाड़ करते पाए जाते हैं। इसके पश्चात् ६० वर्ष के लगभग एक विरक्ति का प्रादुर्भाव होता है। ऊँचे दर्जे के मनुष्यों में वह विश्व-प्रेम के रूप में प्रकट होती है। मध्यम श्रेणी के लोगों में वह निराशावाद के रूप में प्रकट होती है। और निम्न श्रेणी के लोगों में वह अतिस्वार्थ रूप होती है। निम्नतम श्रेणी के मनुष्यों को सामने मृत्यु दीखती है। इसलिए वह कहते हैं लूट लो जितनी मौज लूटी जाय। ऊँची श्रेणी के लोग कहते हैं लूट लो जितना परोपकार लूटा जाय। मध्यम श्रेणी के लोग कहते हैं क्यों वृथाभिमान करते हो अन्त तो मृत्यु ही है। कुछ भी हो, विरक्ति अवश्य आती है। इस प्रकार यह चार अवस्थाएँ हुईं—

(१) वृद्धि;

(२) परिपाक;

(३) वात्सल्य;

(४) विरक्ति (मृत्यु प्रतीक्षाजन्य) ।

अब यह स्पष्ट है कि वृद्धि की अवस्था में सबको समान अवसर न देना अन्याय होगा। क्योंकि परिपाक की अवस्था में हम गुणों के अनुसार छोटे-बड़े का भेद मानते हैं, अतः उन गुणों के प्राप्त करने के समय यह भेद बिलकुल मिट जाना चाहिए। दौड़ में सबसे आगे निकलनेवाले को पारितोषिक देने से पहिले आवश्यक है कि दौड़ एक ही रेखा पर, एक-सी भूमि में, ठीक एक समय पर, एक, दो, तीन कहकर, आरम्भ हो।

१. (क) आगे निकलनेवाले को छोटा कहना, तथा,
   (ख) पीछे निकलनेवाले को पारितोषिक देना, यह वर्तमान युग की व्यवस्था है।

२. (क) आगे निकलनेवाले, तथा,
   (ख) पीछे निकलनेवाले को एक समान समझना, साम्यवाद है।

३. (क) आगे निकलनेवाले को बड़ा, तथा,
   (ख) पीछे निकलनेवाले को छोटा समझना, वर्ण-व्यवस्था है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्णव्यवस्था छोटे-बड़े के

भेद को मानती है। परन्तु मानती है गुणों के आधार पर। इसलिए आवश्यक है कि गुण-परीक्षा से पहिले और गुण-परीक्षा से पीछे के समय में भेद किया जाय।

गुण-परीक्षा से पहिले सबको समान अवसर दिया जाय। गुण-परीक्षा के पश्चात् सबको यथायोग्य "कर्त्तव्य" तथा "अधिकार" रूप फल दिया जाय। परीक्षा से पहिला समय "वृद्धि" का है। तथा, परीक्षा से पीछे "परिपाक" का।

यह वृद्धि तथा परिपाक का भेद ही ब्रह्मचर्याश्रम को गृहस्थाश्रम से पृथक् करता है। इसी लिए ऋषि दयानन्द ब्रह्मचर्याश्रम के सम्बन्ध में लिखते हैं—

> "सबको तुल्य वस्त्र, खान, पान, आसन दिए जायँ। चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)।

परीक्षा के पश्चात् क्या होना चाहिए वह भी सुनिए, अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान "विद्यासभा" और "राजसभा" की व्यवस्था से मिलेंगे। वर्ण के निर्णय के लिए—

> "यह गुण कर्मों की व्यवस्था, कन्याओं की सोलहवें वर्ष, और, पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में

नियत करनी चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास)।

अब हमारे सामने दोनों बातें स्पष्ट हैं। परीक्षा से पहिले तुल्य व्यवहार। परीक्षा के पश्चात्—यथा-योग्य स्ववर्णानुकूल व्यवहार।

अब यह भी समझ लेना चाहिए कि परीक्षा के पश्चात् इस व्यवहार के भेद का बीज भी परीक्षा से पूर्व ही बोया जाना चाहिए। इसलिए ध्यान रहे कि ऋषि दयानन्द ने हरएक बात में तुल्यता नहीं रक्खी। किन्तु खान, पान, आसन आदि वे शारीरिक गुण जिनमें सब मनुष्य लगभग समान हैं, उनमें ही तुल्यता रक्खी है। वह तुल्यता और भी स्पष्ट हो जाती है जब उसका कारण सामने आता है। ऋषि लिखते हैं कि ऐसा क्यों करे ? क्योंकि "सबको तपस्वी होना चाहिए।" इससे यह स्पष्ट है कि इस तुल्यता का मुख्य उद्देश्य सबको तपस्वी बनाना है।

अब हमने तुल्यता तो समझ ली। अब भेद की ओर दृष्टिपात करना चाहिए। सबसे पहिली बात तो यह है कि भेद जो भी हो उसमें जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए, नहीं तो तुल्यता नहीं रही। हरएक बालक को पूर्ण अधिकार होना चाहिए कि वह अपना मार्ग स्वयं

चुने। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—तीनों के अधिकार तथा कर्तव्य उसे खोलकर समझा दिए जाने चाहिएँ। फिर उन्हें भली प्रकार समझकर वह अपने वर्ण का वरण (चुनाव) करे। इस स्वयं वरण के कारण ही ब्राह्मणादि वर्णों का नाम वर्ण है। इसी लिए भगवान् यास्क लिखते हैं—"वर्णो वृणोतेः।"

अब हमें ब्रह्मचर्यकाल के दो भेद भी समझ आ गए। एक वर्ण के वरण से पहिले का और एक पीछे का। सारी बात का सार यह निकला कि शिक्षा दो प्रकार की है। एक वर्ण के चुनाव में सहायक। दूसरी वर्ण के गुणों की उत्पादक। पहिली शिक्षा देना माता-पिता तथा कुल-पुरोहित का कर्तव्य है। इसी लिए ऋषि लिखते हैं—

> "द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्य कुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)।

फिर आगे चलकर लिखते हैं—

> "प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में हो।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)।

आगे चलकर जो लिखा है—"शूद्रमपि अनुपनीत-मध्यापयेत्" इसका अर्थ यही है कि जब तक ब्रह्मचारी

अपने वर्ण का निश्चय न करे तब तक उसकी शिक्षा वर्ण-निश्चय के लिए होगी। और, उसके पश्चात् निश्चित वर्ण के लिए होगी। हो सकता है कि माता-पिता का किया निश्चय आचार्य की दृष्टि में ठीक न हो। इसलिए आचार्य-कुल में फिर यज्ञोपवीत होता है। हो सकता है कि कोई बालक माता-पिता के घर से निश्चय करके न आया हो। उसे भी पढ़ाने से निषेध न करना चाहिए। किन्तु उसे भी वर्ण-निश्चय में सहायतार्थ पढ़ाना चाहिए। हाँ, मन्त्रदीक्षा वर्ण-निश्चय से पूर्व नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो गईं—

(१) वर्ण-निश्चय परमावश्यक है।

(२) वर्ण-निश्चय में माता-पिता सहायक हो सकते हैं। किन्तु उसका वास्तविक निर्णय आचार्य ही करेगा। इसी लिए कहा है—"*आचार्य-स्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा नित्या साजरामरा।" (मनु० २।१४८) इसमें "तु" माता-पितादि द्वारा निश्चित जाति की हीनता बताता है।

* गायत्री के द्वारा आचार्य शिष्य को जो जाति (वर्ण) देता है वह नित्य, अजर, अमर होती है।

(३) जब तक वर्ण-निश्चय न हो तब तक भी पढ़ना बंद नहीं किया जा सकता। हाँ, वह पढ़ाई वर्ण-निश्चय के बाद की पढ़ाई से भिन्न होगी।

इस प्रकार हमने देख लिया कि वैदिक शिक्षा-प्रणाली में वर्ण-निश्चय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। हो भी क्यों न ? हम पहिले अध्यायों में दिखा आए हैं कि हमें अभाव, अन्याय और अविद्या—इन तीनों शत्रुओं से एकाग्रचित्त होकर लड़नेवाले तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के योद्धाओं की अपेक्षा है। यह तीनों प्रकार के अपेक्षित योद्धा किसी वृक्ष पर लगे हुए नहीं मिलते। यह बालकपन में ली हुई दीक्षा ही इस तैयारी का सबसे बड़ा साधन है।

किन्तु इसके महत्त्व को पूर्ण रूप से समझने के लिए पहिले दीक्षा शब्द के अर्थ को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। यदि आप किसी बालक को व्यायाम के लाभ समझाएँ और उसकी विचार-शक्ति इस बात को स्वीकार कर ले तो इसे व्यायाम का "आभास" कहते हैं। यह दीक्षा के मार्ग की प्रथम कोटि है। फिर यदि निरन्तर उपदेश से वह सबके साथ मिलकर व्यायाम करने में प्रवृत्त हो, और, व्यायाम करनेवालों की संगति छूटते ही व्यायाम छोड़ दे—इस कोटि

का नाम "आवेश" है। फिर यदि निरन्तर उपदेश से उसके हृदय में स्वयं व्यायाम करने की तरङ्ग उठने लगे, यह तीसरी कोटि "आवेग" है। फिर यदि वारंवार उपदेश और अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर वह निश्चय करे कि अमुक तिथि से मैं अमुक समय में नियमपूर्वक व्यायाम किया करूँगा तो इस दृढ़ निश्चय का नाम "सङ्कल्प" है। यह चतुर्थ कोटि है। फिर यदि वह अपने सङ्कल्प की शिथिलता देखकर, भगवान् को साक्षी करके, प्रण करे कि मैं यदि यह नियम भङ्ग करूँ तो अपने आपको अपराधी जानूँगा, तो इस सङ्कल्प का नाम "व्रत" हुआ। यह पाँचवीं कोटि है। फिर यदि वह इसमें और भी दृढ़ता उत्पन्न करने के लिए, और, लोकलाज से सहायता लेने के लिए गुरु, पुरोहित तथा प्रजा के सामने इस व्रत की घोषणा करे तो इस व्रत का नाम "दीक्षा" हुआ। यह दीक्षा ही अग्नि है। इसी लिए यह अग्निसाक्षिक की जाती है। यह छठी कोटि है। फिर मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने समान दीक्षा में दीक्षित लोगों की सङ्गति में रहे, जिससे कि अपनी दीक्षा में शिथिलता आने पर एक दूसरे को चेतावनी देते रहें, इसलिए यह सातवीं कोटि "यज्ञ" कहलाती है।

दीक्षा से ही यज्ञ का अधिकारी होता है। अतः छठी कोटि तक पहुँचने के पश्चात् यज्ञोपवीत अर्थात् सङ्गठन के लिए बने हुए बन्धन में बाँधा जाता है। उस दिन गुरु कहता है—"*यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनो-पनह्यामि।" (संस्कारविधि)

यह आवश्यक है कि गुरु के "उप" अर्थात् समीप ले जाने से पूर्व माता-पिता बालक को इन छः कोटियों में से अवश्य निकाल लें। और, यदि वह सीधा आचार्य के पास चला आवे तो भी आचार्य उसे उसी दिन अपने समीप पहुँचा हुआ जाने जिस दिन बालक के हृदय में दीक्षा की अग्नि जल चुकी हो। केवल शरीर से एक दूसरे के समीप रहना समीप रहना नहीं है। यों तो बैल, कुत्ते और दीवार, सिल-बट्टा आदि भी आचार्य के पास रहते हैं। किन्तु जिस दिन दीक्षार्थी होकर विद्यार्थी आचार्य से कहे कि भगवन्! मुझे अपने साथ बाँध लीजिए, उसी दिन उसका उप+नयन अर्थात् समीप लाना हुआ। इसी लिए उपनयन संस्कार में विद्यार्थी हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है—"उप मा नयस्व" अर्थात् "मुझे अपने पास रखिये।" और

*हे शिष्य मैं यज्ञ (सगठन) के प्रतिनिधि यज्ञोपवीत से तुझे बाँधकर अपने पास रखता हूँ।

इस प्रार्थना पर आचार्य भी उसको "कृणुते गर्भमन्त." (अथर्व० ११।५।३) अर्थात् "गर्भ में धारण करता है।" यह महत्त्वपूर्ण क्रिया आजकल बिलकुल लुप्त हो गई है। और, हमारे गुरुकुलों में भी इसका रीति-निर्वाह मात्र होता है। इसी लिए हमें सच्चे फल की प्राप्ति नहीं होती।

भला विचारिये कि हम दर्ज़ी को कपड़े का थान देने से पूर्व उसे बताते हैं कि कुर्ता, पाजामा, कोट, अचकन, पतलून क्या और किस ढङ्ग का बनाना है। तब उसे कपड़ा देते हैं। यदि ऐसा न करके हम उसके सामने थान पटक कर कह दें कि बनाओ, और, जब वह पूछे कि क्या बनाऊँ? तो कह दें कि कोट, पतलून, अचकन, कुर्ता कुछ बना दो। अथवा यों ही फाड़कर टुकड़े कर दो। तो वह हमारी ओर आश्चर्य से घूर कर देखेगा वा नहीं? जब हम मकान बनवाते हैं तो अपनी सब आवश्यकताएँ एक चतुर वास्तुविद् को सुनाकर उस से उत्तम मानचित्र बनवाते हैं। तब उसके अनुसार मकान बनवाते हैं। यों ही राज, मजदूरों को बुला कर कुआँ, बावड़ी, कमरा, मीनार जो चाहो बनाने को नहीं कहते। परन्तु कितना अन्धेर है कि बच्चे को, अपने प्यारे बच्चे को, नहीं, नहीं, मानव-राष्ट्र की आशाओं के केन्द्र, जाति के उज्ज्वल भविष्य, बच्चे को,

अध्यापक के सामने ले जाकर पटक देते हैं कि लीजिए इसे बनाइए। और यदि वह पूछ बैठे कि क्या बनाऊँ तो हमारा उत्तर होगा कि मै कुछ नहीं जानता। आपका जी चाहे सो बनाइए। मैं तो केवल इतना जानता हूॅ कि यह मेरा सिर न खाए। भला बताइए, इस उपेक्षा वृत्ति से भी कभी सन्तान तैयार हो सकते हैं? इसी लिए माता-पिता का धर्म है कि वह विद्वान् पुरोहित की सहायता से गुरुकुल में जाने से पहिले बालक के हृदय में दीक्षा की अग्नि जला दें।

तीन आयु

अब यहाँ बहुत-से लोग यह प्रश्न करते हैं कि इतने छोटे बालक अपने जीवन का भविष्य कैसे निश्चय कर सकते हैं? तो इसके विषय में यह निर्णय है कि इस सम्बन्ध में ऋषियों ने तीन प्रकार की आयु निश्चित की है—

(क) अतिविशेष बालकों का उपनयन काल;

(ख) साधारण बालकों का उपनयन काल;

(ग) व्रात्य काल।

क. अतिविशेष काल

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

(मनु० २।३७)

अर्थात्, "जो अत्यन्त ब्रह्म तेज पाना चाहे उसका उपनयन पाँचवें वर्ष में, जो अत्यन्त बल पाना चाहे उस क्षत्रिय बनने की इच्छावाले ब्रह्मचारी का छठे और अत्यन्त लक्ष्मीसम्पन्न होने की इच्छावाले वैश्य का आठवें वर्ष में उपनयन करे।"

यहाँ "ब्रह्मवर्चसकामस्य" में "कामस्य" यह शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। यही शब्द सारी "उपनयन-व्यवस्था" का प्राण है। इसमें यह शंका नहीं करनी चाहिए कि कोई भी बालक इतनी छोटी आयु में ऐसी कामना नहीं कर सकते। देखिए भगवान् शङ्कराचार्य ने २ वर्ष की आयु में विद्यारम्भ की। १६ वर्ष की आयु में विद्या समाप्त करके न केवल ब्राह्मणत्व की कामना की अपितु संन्यास की कामना की। और इतने बल-पूर्वक की कि माता को १६ वर्ष के बालक को संन्यासी बनने की अनुमति देनी पड़ी। अतएव यदि हमारे घरों की सब व्यवस्था ठीक हो तो छोटी आयु में भविष्य को समझनेवाले बालक होना असम्भव नहीं।

ख. साधारण उपनयन काल

अब साधारण उपनयन की आयु इस प्रकार है—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्।

एकादशे क्षत्रियम्।

द्वादशे वैश्यम् ।

(आश्वलायन १।१६।१-३)

यहाँ भी वही "कामस्य" समझना । "ब्रह्मवर्चसकामस्य" के स्थान में "ब्राह्मण्यकामस्य" समझ लेना । जो ब्राह्मणत्व चाहे तो ८वें वर्ष में उसका उपनयन हो । ११वें में क्षत्रियत्व चाहनेवाले का, और १२वें में वैश्यत्व चाहनेवाले का उपनयन हो ।

ग. व्रात्य काल

अब उन निकृष्ट श्रेणी के स्नातकों का वर्णन करते हैं जो पवित होने से बच गए हैं। किन्तु उनमें विशेषता कोई नहीं—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते ।
आद्वाविंशात् क्षत्रियस्याचतुर्विंशतेर्विशः ॥

(मनु० २।३८)

अर्थात्, "१६ वर्ष तक ब्राह्मण बनने की इच्छावाले का मंत्र-ग्रहण का समय है। २२ तक क्षत्रिय का, और, २४ तक वैश्य का समय है।"

जो इस आयु तक भी निश्चय नहीं कर सका कि वह क्या बनना चाहता है वह या तो अति जडमति है या अति चञ्चलमति है। इन दोनों अवस्थाओं में उसकी अवस्था शोचनीय है। इसलिए वह शूद्र है। किन्तु फिर भी

यदि वह मानव-समाज का शत्रु नहीं, दस्यु नहीं, सेवा करना चाहता है, क्षय नहीं करना चाहता, उसकी गिनती आर्यों में होगी। आर्य-वर्ण में नहीं। वह दुष्ट नहीं बना इतना तो अच्छा है। किन्तु उसने आर्यत्व के किसी मार्ग का भी वरण नहीं किया। इसलिए वह आर्य-वर्ण नहीं कहलाएगा। उसका वर्ण आर्य नहीं है। प्रवृत्ति आर्य अवश्य है। जिसकी प्रवृत्ति भी अनार्य हो वह दस्यु है।

इस प्रकार यह तीन आयु देखने से पता लग गया कि छोटी आयु में वरण करने का प्रश्न भी ऋषियों के गम्भीर अभिप्राय को न समझने से ही उत्पन्न होता है।

इस प्रकार हमने कितने अंश में ब्रह्मचारी तुल्य हैं यह भी बता दिया, और, कहाँ भेद है वह भी बता दिया। इसका सार इस प्रकार है—

(१) खान, पान, आसन आदि में सब तुल्य हैं। यहाँ तुल्य शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। तुल्य का अर्थ बराबर नहीं, किन्तु तुलामित है। अर्थात् तोलकर जिसे जितना उचित हो दिया जाय। तुल्य का अर्थ यह कदापि नहीं कि सबको पाँच रोटी दे दी जावें। जिसे सात की भूख हो वह भूखा रहे और जिसे तीन की

भूख हो उसके पेट से बाँध दी जावें। हाँ, जितनी आवश्यकता है उतना नपा हुआ मिले। उससे अधिक न मिले। यह तुल्य शब्द की विशेषता है।

(२) अपनी इच्छानुसार वर्ण चुनने का अधिकार सबका तुल्य है।

(३) वर्ण चुनने के पश्चात् खान, पानादि तुल्य रहेंगे। किन्तु वर्णानुकूल विद्याध्ययनादि में भेद रहेगा।

फल

अब इस प्रकार दीक्षापूर्वक विद्याध्ययन का लाभ क्या होगा यह बतलाना चाहते हैं। राष्ट्र को इससे जो लाभ होगा वह तो स्पष्ट ही है। बालकपन से दीक्षा-पूर्वक जीवन का लक्ष्य सामने रखकर तैयारी करने से शिक्षक, रक्षक और पोषक अच्छे तैयार होंगे। यह तो स्वयंसिद्ध है। किन्तु हमें यह दिखाना है कि बालक को क्या लाभ होगा? बालक को यह लाभ होगा कि वह सच्चे अर्थों में ब्रह्मचारी बनेगा।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए हमें ब्रह्मचारी शब्द के अर्थ पर विचार करना होगा। इस शब्द में दो भाग हैं। एक ब्रह्म, दूसरा चारी। "ब्रह्म" का

अर्थ है विद्या अथवा परमात्मा। "चर" का अर्थ है विचरना वा खाना (चर गतिभक्षणयोः)। सो ब्रह्मचारी का अर्थ हुआ, "परमात्मा अथवा विद्या में विचरनेवाला" अथवा "परमात्मा या विद्या को खानेवाला।" इन दोनों ही अर्थों का सौन्दर्य हमें आगे दिखाना है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय-निग्रह विशेषकर उपस्थेन्द्रिय का निग्रह प्रसिद्ध है। किन्तु व्याकरण से हमने जो दो अर्थ ऊपर दिखाए हैं उनमें से तो किसी का भी अर्थ इन्द्रिय-निग्रह नहीं होता। तब क्या यह समझें कि इस शब्द का अर्थ इन्द्रिय-निग्रह करनेवालों ने भूल की? नहीं, ऐसा नहीं समझा जा सकता। इस अर्थ में व्यास मुनि तक प्रमाण हैं। (*ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। योग० व्यास० २।३०) फिर भला इस शास्त्रानुमोदित, तथा लोकप्रसिद्ध अर्थ को कैसे छोड़ें? दूसरी ओर व्याकरण को भी नहीं छोड़ा जा सकता। अब क्या करें? पाणिनि और व्यास दोनों में से किसे छोड़ें? परन्तु विचारना चाहिए कि दोनों में से एक को छोड़ें ही क्यों? दोनों में कोई विरोध हो तो एक को छोड़ दें।

* गुप्त इन्द्रिय उपस्थ के संयम का नाम ब्रह्मचर्य है।

८

परन्तु यदि हम देखें कि दोनों में विरोध ही नहीं तो फिर दोनों में से एक को चुनने का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः बात यही है। इन दोनों में विरोध कोई नहीं। यदि राम के खेत में जल जा रहा हो, तो हम यदि कहें कि जल राम के खेत में विचर रहा है, अथवा कहें कि राम के खेत के बाहर नहीं विचर रहा, इसमें विरोध क्या है? जल केदारचारी है और बहिश्चारी नहीं है। दोनों एक ही बात तो हैं। क्या राम की क्यारी में जल विचरे तो वह उस क्यारी में निगृहीत नहीं हुआ? क्या जल-निग्रह और केदार-सेचन एक ही बात नहीं। जल रोकना और क्यारी सींचने में क्या भेद है? क्यारी में जल रुकता है तब ही तो उसको सींचता है। इसी प्रकार मन ब्रह्म में विचरेगा तो विषयों में कैसे विचरेगा? इसलिए ब्रह्मचारी बनना और विषयचारी न बनना एक ही बात तो है। किन्तु ब्रह्मचारी शब्द में विशेषता यह है कि इसमें मन को रोकने का साधन भी साथ ही बता दिया गया है।

यदि मन को विषयों से रोकना है तो वह ब्रह्म में रहे? क्यों रहे? ब्रह्म बड़ा स्वादु पदार्थ है। उसे खाने के लिये रहे। क्या उपनिषद् में नहीं कहा

"*अहमन्नम् अहमन्नाद" (तैत्ति० उप० अनु० २।१०) आखिर कहिये तो सही इष्टमित्र, परिवार, सबके छोड़े हुए भक्त लोग क्या खाकर जीते हैं ? अङ्ग अङ्ग कट रहे हों, रोम-रोम फोड़ा बना हो, नीचे आग जल रही हो, ऊपर जल्लाद की तलवार चमक रही हो, उस समय भी जो भक्तों के चेहरे पर कान्ति चमकती है और पहिले की अपेक्षा भी अधिक वेग से चमकती है वह इस स्थूल अन्न से तो पैदा नहीं होती। यह स्थूल अन्न तो सभी खाते हैं। बस, भक्त तो "उसे" ही खाते हैं ? कैसे खाते हैं ? कल पाठशाला में गुरु जी झुंझला कर नटखट लड़कों से कह रहे थे तुमने तो मेरा सिर खा लिया। एक घुटे हुए नटखट ने कहा कि गुरु जी ! आपके सिर में न कोई दाँत लगने का चिह्न है, न चाकू लगने का, उतना का उतना ही दीखता है, फिर हमने खा कैसे लिया ? पर गुरु जी तो कहते हैं खा लिया। वह क्या झूठ कहते हैं ? इसी प्रकार भगवान् कहते हैं—"मैं अन्न हूँ, भक्त मुझे खाकर जीते हैं।" यह पदार्थ है भी इतना रस-भरा कि "†रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते।" (गीता २।५६)

---

*मैं अन्न भी हूँ और अन्न को खाने वाला भी हूँ।

†परब्रह्म को देखकर भक्त का चित्त विषयों के रस से हट जाता है।

परन्तु इस रस को खाएँ कैसे ? बस, यही कार्य वर्ण-व्यवस्था का है। संसार में परब्रह्म की सत्ता का अनुभव साधारण मनुष्यों को दुःख में होता है। बात भी ठीक है। परिश्रम से शरीर में क्षीणता आती है तब ही तो भूख लगती है। भूख से ही भोजन स्वादु दीखता है। फिर यदि भोजन हो भी स्वादु तब तो कहना ही क्या। इस ब्रह्म-रूपी भोजन के स्वादु होने में तो कुछ भी संदेह नहीं जिसका लेप मृत्यु तक को स्वादु बना दे। जिसकी छाया से मृत्यु भी मनोमोहनी बन जाय—"यस्यच्छाया ऽमृतम्" (यजुः २५।१३)—उससे बढ़कर स्वादु, उससे बढ़कर रस-भरा, कौन है ? परन्तु भूख बिना यह दिव्य पदार्थ भी स्वादु नहीं लगता। भूख लगती है क्षीणता पर। इसी प्रकार ब्रह्म की भूख भी क्षीणता में, अपनी दुर्बलता के अनुभव में, ही लगती है। वह दुर्बलता दुःख में स्पष्ट होती है। दुःख का अर्थ है वह अवस्था जिसको दूर करना अभिमत हो, किन्तु दुष्कर हो। फिर भला इस रहस्य को जानकर भी हम इससे लाभ न उठावें तो हमसे बढ़कर अभागा कौन है ? जिस दुष्प्रतीकार्य अवस्था से घिरने पर हमें अपने से बड़ी शक्ति का स्मरण हो आता हो उस अवस्था को हम सदा ही अपने सामने क्यों न रक्खें ? जिससे हमारी रसना सदा ही उस

महाशक्ति की रसधारा में डूबी रहें। बस, इस दुःख को निमन्त्रण देने का यही उपाय है कि पराये दुःख को अपना लेना।

बस, पराई अविद्या को अपनी अविद्या जान कर, उसके दूर करने की दीक्षा का नाम ब्राह्मणत्व की दीक्षा है। पराये अन्याय को अपने पर अन्याय जानकर उसे दूर करने की दीक्षा का नाम क्षत्रियत्व की दीक्षा है। पराये अभाव को अपना अभाव जानकर उसे दूर करने की दीक्षा का नाम वैश्यत्व की दीक्षा है।

दीक्षा का फल है एकाग्रता। एकाग्रता का फल है ब्रह्मबुभुक्षा की प्रबलता। इस परब्रह्म की भोजनशाला में एक आनन्द की बात यह है कि यहाँ भोजन तो सदा एक रस तैयार मिलता है। भूख तैयार करने में ही देरी होती है। भूख तैयार होते ही भोजन अन्दर जाने लगता है। फिर तो खानेवाले को रस अधिकाधिक आने लगता है। और विषयचारी से छूटकर वह ब्रह्मचारी होता जाता है। अन्त को वह अवस्था आ जाती है, जब वह प्यारे-से-प्यारे विषय को भी, यदि वह ब्रह्म में लिपटा न हो तो, फेंक देता है। और कड़वे से कड़वे पदार्थ को भी यदि उसपर ब्रह्म की चासनी चढ़ी हो अर्थात् उसके द्वारा प्रभु-सेवा होती हो, उसकी प्रजा

का दुःख दूर होता हो, तो अमृत समझकर खा लेता है। ऐसे मनुष्य को कहते हैं ब्रह्मचारी। किन्तु इसके लिए एकाग्रता आवश्यक है। एकाग्रता तब ही होगी जब उसके आगे ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व तीनों नहीं, इनमें से कोई एक, केवल एक हो। यही वर्णव्यवस्था का ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध है।

जिस दिन वर्ण-धर्म के चमचे द्वारा ब्रह्म को खाकर बालक ब्रह्मचारी बनता है फिर उसकी मस्ती का क्या पूछना! फिर तो वह कह उठता है—

हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ऋ० १०।११९।९

अर्थात्, "आज तो बस जी चाहता है कि धरती को उठाकर यहाँ-से वहाँ और वहाँ-से यहाँ रख दूँ। जानते हो क्यों? इसलिए कि आज मैंने सोम रस (रेतो वै सोमः, सोम=वीर्य) पान कर लिया है।"

भला जिस वर्णव्यवस्था से समाज को तो विद्या, न्याय, और, धन मिले, तथा व्यक्ति को मस्ती का भण्डार ब्रह्म खाने को मिले, उससे बढ़कर आनन्दमय व्यवस्था और कौन-सी हो सकती है?

२. गृहस्थाश्रम

यह व्यक्ति को लाभ ब्रह्मचर्याश्रम तक ही परिमित नहीं

रहता। वर्णव्यवस्था से मनुष्य के गृहस्थ-जीवन पर क्या मधुर प्रभाव होता है यह भी देखना चाहिए।

कोई लाख बातें घड़े, लाख बीसवीं सदी और नये ज़माने की दुहाई दे, किन्तु इस बात का कभी प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता कि प्रेम की परख ध्रुवता में है। जिस प्रकार एक मकान का हज़ारों बरस तक आँधी, पानी, भूकम्प आदि की अवहेलना करते हुए खड़े रहना स्वयं एक सुन्दरता है,\ यही बात प्रेम की भी है।

उत्क्रान्ति

दम्पती के प्रेम में आरम्भिक कारण प्राय: रूप का आकर्षण होता है। किन्तु यह आकर्षण तो प्रेम के स्रोत का ढकना उठाने-मात्र में सहायक होता है। रूप का आकर्षण प्रेम से इतना ही भिन्न है जितना खटाई खाँड से। वह खाँड के शर्बत में मिलकर एक सरसता अवश्य उत्पन्न कर सकती है। परन्तु खटाई खाकर कोई जी नहीं सकता। यह आर्थिक सहायता, शारीरिक सेवा, रूप का आकर्षण आदि सबसे ऊपर उठ जानेवाला उत्क्रान्त (Transcendental) प्रेम ही दम्पती के जीवन में वास्तविक सुख उत्पन्न करता है। यह एक निर्विवाद सत्य है। एक

स्वयं सिद्धि है। जो इस आधारभूत सिद्धान्त को नहीं मानते उनके प्रति हमें कुछ नहीं कहना। वह हमारे ग्रन्थ को निःसङ्कोच रद्दी की टोकरी में फेंक दें। किन्तु यदि इस मौलिक सिद्धान्त को ठीक मान लिया जाय तो फिर वर्णव्यवस्था को गृहस्थाश्रम का आधार मानना ही पड़ेगा। अपने इस कथन की सत्यता को जाँचने के लिए हम इस समय तक प्रचलित विवाह-प्रणालियों पर विचार करते हैं।

पहली विवाह-प्रणाली

सबसे पहिली विवाह-प्रणाली जो हमारे सामने आती है वह प्रचलित हिन्दू विवाह-प्रणाली है। हिन्दू-विवाह प्रतिज्ञा की भित्ति पर खड़ा है। वह प्रतिज्ञा अटल है। इसलिए हिन्दू-विवाह अटल है। हमने थोड़ी देर पहिले मकान का दृष्टान्त दिया था। मकान का हज़ारों वर्ष खड़ा रहना निःसन्देह एक गुण है। किन्तु यह सब कुछ नहीं। मकान हवादार भी तो होना चाहिए। यदि खिड़कियों से रहित मकान एक सहस्र वर्ष खड़ा रहा तो उसने एक सहस्र वर्ष अपने आश्रितों का दम घोटा। यह कौन-सी प्रशंसा की बात है? इसलिए दूसरे विचारक कहते हैं कि दम्पती को परस्पर चुनाव का अधिकार होना चाहिए। परस्पर

के चुनाव से जो स्वतन्त्रता प्राप्त होती है वह खुली वायु के झोके के समान जीवन देनेवाली है।

दूसरी विवाह-प्रणाली

दूसरी विवाह-प्रणाली योरोपियन विवाह-प्रणाली है। इसमें सबसे बड़ा गुण स्वतन्त्रता है। पहिले चुनाव की स्वतन्त्रता आई। फिर जब यह बात सामने आकर खड़ी हुई कि चुनाव में भूल भी हो सकती है तो बन्धन के तोड़ने की स्वतन्त्रता का प्रश्न भी सामने आकर खड़ा हुआ। स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता तक पहुँची। ध्रुवता का निशान मिटने की नौबत आई। गृहस्थ आश्रम न रहा। किन्तु एक फटा तम्बू हो गया, जो जब चाहे उखड़ जाय और सदा चूता रहे। अन्त को समझ में आने लगा कि मकान तो विश्राम के लिए है। यदि खुली हवा के पागलपन में विश्राम ही न मिला तो मकान बनाने का आडम्बर ही क्यों करना। फिर खुले आकाश के नीचे पूर्ण स्वतन्त्रता में क्यों न विचरें।

परन्तु स्वतन्त्रता और ध्रुवता तो साधन हैं, साध्य नहीं। मार्ग हैं, ध्येय नहीं। ध्येय तो दम्पती का सुख तथा राष्ट्र की सेवा है। दम्पती का सुख परस्पर सेवा द्वारा, और, राष्ट्र की सेवा सन्तति द्वारा। दोनों एक-दूसरे के सहायक हैं। जो दम्पती राष्ट्र की सेवा

में नहीं लगे उन्हें सुख नहीं हो सकता। और जो सुखी नहीं वह उत्तम सन्तान द्वारा राष्ट्र की सेवा नहीं कर सकते।

समन्वय : वैदिक-विवाह

इस ध्रुवता और स्वतन्त्रता के सुखकारी समन्वय का नाम वैदिक विवाह है। वैदिक विवाह में हिन्दू-विवाह का प्रतिज्ञा का बन्धन नहीं है, यह बात नहीं है। उसमें बन्धन तो सब ही हैं। प्रतिज्ञा का बन्धन, स्वतन्त्र चुनाव द्वारा उत्पन्न हुए प्रेम का बन्धन, लोक-लाज का बन्धन, यह सब ही बन्धन इसमें उपस्थित हैं। सच तो यह है कि वैदिक विवाह की उत्कृष्टता बन्धनों के अभाव में नहीं, किन्तु अधिकता में है। इसमें एक बन्धन ऐसा है जो प्रतिज्ञा के बन्धन को बन्धन नहीं पता लगने देता। आखिर यह संसार खड़ा किसके सिर पर है? बन्धन ही तो संसार का आधार है। जब तक परमाणु-से-परमाणु बँधे हैं संसार है। जिस दिन यह बन्धन टूटा प्रलय आई। एंजिन चल रहा है। पुर्ज़े के साथ पुर्ज़ा जकड़ा हुआ है। तब तक गाड़ी चल रही है। गाड़ी एंजिन के साथ बँधी है। दूसरी गाड़ी पहिली गाड़ी के पीछे बँधी है। तब तक ट्रेन है। बन्धन टूटे और सारा कारोबार नष्ट। सैनिक

सेनापति की आज्ञा में बँधे खड़े हैं। जब तक यह बन्धन है राष्ट्र खड़ा है। बन्धन टूटा कि राष्ट्र गया। परन्तु बन्धन ढीला नहीं होना चाहिए। जहाँ एक कील ढीली हुई कि खड़खड़ मची। यह तब ही हो सकता है कि जब बन्धन में बँधनेवाले एक-दूसरे के लिए बिलकुल अनुशायी हों। अच्छा कारीगर वही है जिसके यन्त्र में न कील आवाज़ दें, न उभरे हुए नजर आवें, उलटे पालिश में छिपे हुए हों। लकड़ी का काम करनेवालों से पूछिए "डवटेल" जोड़ों (Dovetail joints) की इतनी प्रशंसा क्यों है। बस, वैदिक विवाह की यही सुन्दरता है।

किन्तु यह सुन्दरता उत्पन्न कैसे की गई है पहिले यह देखना होगा। वैदिक विवाह में यह सुन्दरता सवर्ण विवाह अथवा समान-व्रत-विवाह द्वारा उत्पन्न की गई है। वैदिक विवाह में प्रतिज्ञा है, परस्पर अनुराग है, रति है, सब-कुछ है। परन्तु इन सबसे पहिले व्रत है। वैदिक विवाह व्रतों की समानता की अटल चट्टान पर खड़ा है। रूप का अनुराग रूप के साथ नष्ट हो जाता है। आर्थिक सुभीते का विवाह आर्थिक हानि के साथ टूट जाता है। प्रतिज्ञा थोड़े से भी मनोमालिन्य से कैदी की बेड़ियों के समान

अखरने लगती है। किन्तु व्रतों की समानता है जो कभी नष्ट नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए राम और सीता के प्रेम में परस्पर अनुराग भी था, आदर भी था, रूप की प्रीति भी थी, प्रतिज्ञा का बन्धन भी था। सीता राम को देवता समझकर पूजती थी। राम सीता को हृदय में रखकर आराधना करते थे। परन्तु इस विवाह का मूलाधार इन सबसे अलग था। वह था "क्षत्रिय-धर्म"। राम अन्याय के विध्वंस के व्रत में दीक्षित थे। यही सीता का व्रत था। धनुर्भङ्ग तो केवल इस व्रत के लिए योग्यता को परखने का साधन-मात्र था। परन्तु इस विवाह का आधार था क्षत्रिय-धर्म। इसी लिए सीता राम की न तो अनुराग पत्नी थी, न रति-पत्नी थी, न सेवा-पत्नी थी, न प्रतिज्ञा-पत्नी थी, वह थी राम की "धर्मपत्नी"। धर्मपत्नी होने के पश्चात् वह सब-कुछ थी। परन्तु सबसे पहिले धर्मपत्नी थी। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि विवाह से पहिले वर और कन्या दोनों किसी "धर्म" में दीक्षित हों। और वह दीक्षा दोनों की समान हो। यही वैदिक विवाह का आधार है। इसी लिए कहा है—"* पत्युरनुव्रता भूत्वा

---

* हे पत्नी तू पति के अनुकूल व्रतवाली होकर अमृत सुख प्राप्त करने के लिए पति से बँध जा।

संनह्यस्वामृताय कम् ॥" (अथर्व० १४।१।४२)। परन्तु जिसका व्रत ही न हो उसकी पत्नी अनुव्रता कैसे हो ? इसी लिए हरएक पुरुष को विवाह से पहिले व्रती होना आवश्यक है। बस, इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि वर्णव्यवस्था के विना गृहस्थाश्रम का सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता। यह व्रत ही है जो मनुष्यों को रूप तथा आर्थिक सुभीते से ऊपर उठा सकता है। काले-कलूटे, बेढङ्गम, यथार्थनामा अष्टावक्र में उसकी पत्नी को विद्या-व्रत के सिवाय और क्या मिल सकता है ? किन्तु विद्या-व्यसन में, विद्या के अनुराग में, रूप की बिलकुल उपेक्षा करनेवाली कोई सच्ची ब्राह्मणी ही तो ऐसे रूप-हीन तथा धन-हीन को इष्ट देवता बना सकती है। वीरता के व्रत में दीक्षिता राजपूत रमणी क्या पति का रूप देखती थी ? वहाँ तो यही देखा जाता था कि तलवार का धनी, बात का धनी, आन का धनी, कौन है। किन्तु आन के धनी की उपासना वही तो कर सकती है जो स्वयं आन को जान से बढ़कर जानती है। उत्तम वैश्य-कन्या पति के रूप को नहीं देखती थी। वह भी यही देखती थी कि वह दान का धनी है वा नहीं। किन्तु दान के धनी की पूजा वही तो करेगी जो स्वयं दान को धन समझे। बस, यह ज्ञान,

ज्ञान, और, दान की पूजा का व्रत पुरुषों को पत्नीव्रत और स्त्रियों को पतिव्रता बनाता था। आज लोगों ने व्रत तो छोड़ दिए और पतिव्रत-धर्म पर गला फाड़कर संसार के कान खाते हैं। याद रक्खो यह व्रत-पूजा ही उत्क्रान्त प्रेम (Transcendental Love) उत्पन्न कर सकती है। इसलिए यदि संसार में सच्चे गृहस्थाश्रम के सुख को लाना चाहते हो वर्णव्यवस्था का उद्धार करो। इसके बिना कभी सुख न होगा।

यह जो स्त्री पुरुषों में प्रतिदिन अधिकारों का झगड़ा सुनने में आता है इसका भी अन्त वर्णव्यवस्था से ही होगा। वर्णाश्रम-व्यवस्था इस बात को स्वीकार करती है कि पति का स्थान पत्नी से बड़ा है। किन्तु यह स्वीकार नहीं करती कि पुरुष का स्थान स्त्री से बड़ा है।

हरएक पुरुष हरएक स्त्री से, अथवा, हरएक स्त्री हरएक पुरुष से, पुरुष वा स्त्री होने मात्र से, बड़े हैं यह कल्पना मिथ्या है। हाँ, किसी स्त्री का पति होने योग्य पुरुष वही है जो पुरुष होने के कारण नहीं किन्तु अपनी व्यक्तिगत योग्यता से उससे बड़ा हो। पति होने के कारण पत्नी का देवता न हो, किन्तु देवता होने के कारण पति बना हो।

इस बात में सम्भव है बहुत लोग आपत्ति उठावें। किन्तु विचार से यह बात माननी ही पड़ेगी। मोटी बात ले लीजिए। संसार में कोई कन्या अपने से दुर्बल शरीरवाला पति नहीं चाहती। असाधारण अवस्थाओं की बात जाने दीजिए। किन्तु साधारण नियम यही है। संसार की किसी कन्या से पूछ लीजिए कि क्या वह ऐसे पुरुष के बच्चों की माता बनने को तैयार है जो उसका थप्पड़ खाकर गिर पड़े। मुझे विश्वास नहीं कि लाख में से एक कन्या भी ऐसा खिलौना माँगे। फिर जो शरीर में अधिक बलवान् है, और, गुणों में हीन है, वह हरएक मतभेद में शारीरिक बल के प्रयोग की ओर झुकेगा। जिसका फल कलह और अशान्ति ही होंगे। इसलिए पति जहाँ शरीर में अधिक बलवान् होना चाहिए वहाँ गुणों में भी बड़ा होना चाहिए। सच तो यह है कि गुणों में बड़ा कदाचित् शरीर में दुर्बल होने पर भी पूजा का पात्र हो सकता है। परन्तु शरीर में बड़ा, किन्तु गुणों में हीन, कभी पूजा का पात्र नहीं हो सकता। गुणों की बात क्यों कहें, वास्तव में तो पति उस एक गुण में विशेषरूप से बड़ा होना चाहिए जिस गुण की पत्नी उपासना करती है। ब्राह्मण-कन्या का पति और किसी गुण में बड़ा हो या

न हो विद्या में तथा विद्या-व्यसन में तो बड़ा अवश्य होना चाहिए। क्षत्रिय-स्वभाव की कन्या का पति आन का धनी तो होना ही चाहिए। यदि वह शूरता में हीन है तो विद्यादि गुणों का भण्डार होने पर भी पूजा का पात्र नहीं हो सकता। वैश्य-स्वभाव की कन्या का पति दान का धनी तो अवश्य होना चाहिए। वैश्य-कन्या कंजूस की पूजा नहीं कर सकती। आजकल के वैश्य कहलानेवाले लोग इस पंक्ति को पढ़कर कदाचित् चौंक उठें। परन्तु उनमें जो सच्चे वैश्य हैं वह नहीं चौंकेंगे। कंजूस को वैश्य नहीं कहते। उसको तो असुर कहते हैं।

इसलिए इस झगड़े को मिटाने के लिए आवश्यक है कि वर्णव्यवस्था का उद्धार हो। आज एक कन्या अपने पति से पूछती है, मैं तेरी सेवा क्यों करूँ? तुझमें क्या विशेषता है? सवर्ण विवाह में वह विशेषता पहिले देखती है, पति पीछे बनाती है। इसलिए झगड़ा उत्पन्न ही नहीं हो सकता। किन्तु इस मर्यादा को ठीक करने के लिए पहिले पुरुषों को कठोर तप द्वारा देवता बनना पड़ेगा। नहीं तो वह किसी देवी के आराध्यदेव नहीं बन सकते। भला जो वर्णव्यवस्था साधारण मनुष्य को असाधारण बनने के लिए ऐसे बल

से प्रेरणा करती है, व्रतहीनों को व्रत धारण करने के लिए बाधित करती है, उससे बढ़कर मनुष्य-जाति के कायाकल्प का उपाय और क्या हो सकता है ?

३. वानप्रस्थाश्रम

इस प्रकार प्रथम दो आश्रमों का वर्णन करके हम तीसरे आश्रम की ओर आते हैं। जिस प्रकार वर्तमान युग के पति-पत्नी के झगड़े को दूर करने का उपाय गृहस्थाश्रम के प्रकरण में वर्णन किया गया है, इसी प्रकार बच्चों की शिक्षा के विषय में संसार के निर्धनों और धनपतियों में जो युगान्तरकारी विप्लव उठा हुआ है, उसका उपाय वानप्रस्थाश्रम है।

एक अध्यापक अधिक-से-अधिक बीस बच्चे बड़ी कठिनता से सँभाल सकता है। वास्तव में तो दस बच्चे ही भली प्रकार सँभाले जा सकते हैं। यदि इस नियम को मान लें तो तीस करोड़ प्रजा के दो करोड़ बच्चों के लिए, उत्तम शिक्षा देनी हो तो, बीस लाख नहीं तो कम-से-कम दस लाख अध्यापक चाहिएँ। और इसी नियमानुकूल संसार की दो अरब दस करोड़ जन-संख्या के चौदह करोड़ विद्यार्थियों के लिए, उत्तम शिक्षा देनी हो तो, एक करोड़ चालीस लाख अध्यापक चाहिएँ।

नहीं तो कम-से-कम सत्तर लाख तो अवश्य ही चाहिएँ। इसके अतिरिक्त बड़ी आयु के लोगों में भी कम-से-कम निरक्षरता तो दूर होनी ही चाहिए।

अब प्रश्न उठता है, इतनी बड़ी संख्या में अध्यापक कहाँ से प्राप्त हों? इसके लिए संसार की युद्धलीला को देखिए। जिन देशों को युद्ध के लिए सिपाहियों की आवश्यकता होती है वे क्या करते हैं? वे दण्ड-प्रयोग करते हैं। अमुक आयु से अमुक आयु तक हरएक नवयुवक को सिपाही बनना होगा नहीं तो दण्डनीय होगा। इस दण्डप्रयोग से प्रयोजित हरएक नवयुवक सिपाही बनता है। बस, संकट के समय इस प्रयोजना (Conscription) का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु इस प्रयोजना का आश्रय ज्ञान के विस्तार के लिए भी किया जा सकता है। यह किसी को नहीं सूझा। यह वेदज्ञ ऋषियों की ही सूझ थी कि उन्होंने अज्ञान-रूप शत्रु के साथ लड़ने के लिए इस प्रयोजना का आश्रय लिया।

किन्तु इस प्रयोजना की आयु भिन्न है। अज्ञानासुर अथवा वृत्रासुर के साथ लड़ने के लिए दीक्षित ब्राह्मण-सेना तो इस युद्ध की स्थिर सेना (Standing army) है। किन्तु वानप्रस्थाश्रम में आकर तो क्षत्रियों तथा

वैश्यों को भी ब्राह्मण बनना होगा। यह इस युद्ध की प्रयोजित सेना (Conscript army) है। शस्त्र-युद्ध में प्रयोजना की आयु प्राय: १८ से २१ तक है। किन्तु इस युद्ध में ५० वर्ष से ऊपर के लोग प्रयोजित किए जाते हैं।

इसका परिणाम क्या होता है इस पर ध्यान दीजिए। प्रथम तो नौजवानों तथा बूढ़ों का युद्ध बन्द हो जाता है। जहाँ आज चारों ओर नौजवान बूढ़ों की मौत मनाते हैं वहाँ इस स्वयं स्वेच्छया परित्याग से उनका गौरव बढ़ता है। दुष्ट-से-दुष्ट पुत्र पिता की मृत्यु पर वियोग में एक बार रो उठता है। यह एक अनुभूत बात है। किन्तु कोई पिता यह दृश्य देखने नहीं आता। यदि सब पिता वानप्रस्थ की इस वैदिक मर्यादा को ग्रहण कर लें तो वे अपने जीवन में एक अद्भुत दृश्य देख सकते हैं। वह अपनी आँखों से देखेंगे कि पुत्र आग्रह-पर-आग्रह करके उन्हें निमंत्रण देकर बुला रहे हैं।

यही नहीं। माता-पिता जो अपने पुत्रों को संसार की माया में न फँसने का वारंवार उपदेश करते हैं वह इसी लिए सफल नहीं होता कि जो स्वयं माया मे फँसे हुए हैं उनका उपदेश क्या फल लावे। किन्तु जिस व्यवस्था में चक्रवर्ती राजा तक वानप्रस्थ की आयु

आने पर स्वयं छत्र, चामर छोड़कर प्रजा की निष्काम सेवा में लग जावे, जो कल मुकुटधारी था आज मुनिवेशधारी होकर विद्या-दान के काम में लग जावे, वहाँ नवयुवक स्वयं सोचते हैं कि जो पिता कल राज्य के स्वामी थे वे आज स्वयं राज्य छोड़कर जिस विभूति की खोज में निकले हैं वह अवश्य राज्य की विभूति से भी बढ़कर होनी चाहिए। ऐसे माता-पिता जब बच्चों को निष्काम सेवा का उपदेश करते हैं तो वह उपदेश अवश्य फल लाता है। और ऐसे पितर लोग, अनेक वार प्रार्थना करने पर, जब पुत्रों को दर्शन देते हैं तो जो श्रद्धा पुत्रों के हृदय में उमड़ती है। वह अपनी उपमा नहीं रखती। इसी लिए उस पितृ-पूजा का नाम श्राद्ध है।

यह वानप्रस्थ का मुनिवेश निरी कल्पना नहीं, भारतीय सभ्यता का सजीव अङ्ग है। देखिए महाराज दिलीप के लिए कविवर कालिदास क्या कहते हैं—

*अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे,
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।

---

* राजा दिलीप ने विषयों से निवृत्त होकर अपने पुत्र रघु को यथाविधि सिंहासन पर बिठाया और स्वयं अपनी रानी के साथ वानप्रस्थ

मुनिवरतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये,
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥
रघु० ३।७०

खैर, यह तो हुई प्रसङ्गागत बात। इस प्रकरण में जो मुख्य बात है वह है शिक्षा की समस्या का सुलझना। देखिए इसमें इतने लाभ हैं। एक तो देश को इतनी बड़ी संख्या में अध्यापक मिल गए। दूसरे, अनुभवी अध्यापक मिल गए। तीसरे, उस आयु के अध्यापक मिल गए जिनमें बच्चों के प्रति वात्सल्य की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। चौथे, बिना मूल्य सेवा करनेवाले अध्यापक मिल गए, जो केवल भिक्षा के अन्न-मात्र पर अथवा अपने पुत्रों की दी हुई 'स्वधा' पर पलते हैं।

इस प्रकार ब्राह्मणों के साथ मिलकर यह भारी अध्यापकों की संख्या अविद्या के साथ ऐसा घोर युद्ध करती थी कि राज्य में एक भी मनुष्य विद्या-हीन नहीं रहने दिया जाता था। विद्या-हीन ही नहीं, इस शिक्षा-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता आचार-हीनता का उच्छेद है। जब इतनी बड़ी संख्या में अध्यापक मिल जावें तो प्रत्येक बालक को गुरु का पूरा सत्सङ्ग प्राप्त

में जाकर ऋषि वसिष्ठ के आश्रम के पेड़ों की छाया ग्रहण की। बूढ़े इक्ष्वाकुवंशी राजाओं का यही कुलधर्म है।

होता है। और इस गुरु-शिष्य की अत्यन्त समीपता के कारण आचार पर पूरा ध्यान दिया जा सकता है। इस वैदिक शिक्षा का गुरु केवल विचारों का परिवर्तन ही नहीं करता, किन्तु आचार का परिवर्तन भी करता है। इसी लिए उसका नाम आचार्य है। इसलिए इसी शिक्षा-प्रणाली के आधार पर राजा कह सकता है—

* न मे स्तेनो जनपदे न कदर्य्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥
(छन्दो० उप० ५।११।५)

इस प्रकार व्यापक शिक्षा के प्रश्न को वर्णाश्रम-व्यवस्था ने जिस सुन्दरता से सुलझाया है, वह अद्वितीय है। आवश्यकता है तो इसे कार्य रूप में परिणत करने की। फिर देखिए संसार इसकी ओर दौड़ता है वा नहीं।

४. संन्यास आश्रम

आज से २० वर्ष पूर्व रूस से जो समाजवाद की लहर उठी थी उससे प्रतीत होता था कि शायद अब संसार में दूसरे कोई विचार रहेंगे ही नहीं। किन्तु

* न मेरे राज्य में कोई चोर है, न कंजूस, न शराबी, न अग्नि-होत्र न करनेवाला है, न अविद्वान् है, न व्यभिचारी है, व्यभिचारिणी स्त्री तो हो ही कहाँ सकती है।

बीस वर्ष में ही कितना परिवर्तन हो गया है ! रूस की सीमा के साथ ही जर्मनी की सीमा मिली हुई है। जर्मनी को बिलकुल अनपढ़, पिछड़ा हुआ, दकियानूसी विचारों का अज्ञानी देश भी नहीं कहा जा सकता। विज्ञान के क्षेत्र में कौन-सी शाखा है जिसमें जर्मनी ने बड़े-बड़े दिग्गज नहीं पैदा किये ? फिर मान भी लीजिए कि इस अंश में जर्मनी और उसका साथी इटली पिछड़े हुए हैं, तो भी, ऐसे महाशक्ति-शाली देश विश्व-प्रेम के पवित्र सन्देश से क्यों दूर भागे ? और मार्क्स के विचारों को समूल नष्ट करने का बीड़ा उन्होंने क्यों उठाया ? इन प्रश्नों की मीमांसा तो घोर-से-घोर समाजवादी को भी करनी ही होगी। क्या जर्मनी, जापान, इटली-जैसे देशों को साथ लिये बिना मार्क्स और लेनिन का विश्व को एक सूत्र में बाँधने का स्वप्न सफल हो सकता है ? हिटलर और मुसोलिनी को, तथा उनके साथ इटली और जर्मनी की प्रजा को मूर्ख, विवेक-हीन, दब्बू आदि गालियाँ देने मात्र से तो काम न चलेगा। इस प्रश्न की गहराई में घुस कर मूल कारण को जानकर उसको दूर करने से ही विश्व-प्रेम की गाड़ी आगे चल सकेगी। यदि रूसवासियों को यह विश्वास हो कि शस्त्र-बल से इन तीनों देशों (जर्मनी, जापान,

इटली,) का विध्वंस करके समाजवाद का प्रचार कर दिया जायगा तो यह तो दुराशामात्र है। प्रचार के मार्ग में सबसे दुर्बल उपाय शस्त्र है। प्रचार तो प्रचार से ही होता है। प्रचार के मार्ग में दण्डबल का प्रयोग तो लोगों को सच्ची बात के विरुद्ध भी भड़का देता है। हाँ, जिस बात की बुराई को कोई मनुष्य स्वीकार कर ले उससे उसको बचाने में दण्ड-बल सहायक हो सकता है। यदि कोई मनुष्य शराब पीना बुरा समझता हो उसे बल-पूर्वक शराब पीने से हटाना सफल हो सकता है। किन्तु जो शराब पीने को धर्म जानता है उसके विरुद्ध बलप्रयोग तो उलटा उसे और दुराग्रही बनाता है। इसलिए यदि समाजवादी शान्ति-पूर्वक हिटलर और मुसोलिनी के विकास का अध्ययन करें तो उन्हें अपनी भूल का पता लग जायगा।

इस विकास का अध्ययन करने के लिए हमें लघुतर स्वार्थ और विशालतर स्वार्थ के समन्वय का अध्ययन करना पड़ेगा। शास्त्रकारों ने कहा है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥

अर्थात्, "कुटुम्ब की भलाई के लिए एक मनुष्य को, ग्राम की भलाई के लिए एक कुटुम्ब को, और देश की

भलाई के लिए ग्राम को छोड़ देना चाहिए।" इससे यह स्पष्ट है कि छोटे स्वार्थ और बड़े स्वार्थ, छोटे प्रेम और बड़े प्रेम, में संघर्ष अनेक वार उपस्थित होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इनमें सदा विरोध ही हो। यह एक दूसरे के सहायक भी हो सकते हैं। यदि हम उस सूत्र को जान लें जिससे कि छोटे और बड़े प्रेम का समन्वय होता है तो हमें मार्क्स और हिटलर के विरोध का कारण और समन्वय का उपाय भी समझ में आ जायगा। छोटे और बड़े स्वार्थ में यद्यपि विरोध आवश्यक नहीं, किन्तु विरोध की भारी सम्भावना सदा वनी रहती है। छोटा स्वार्थ स्वाभाविक है। बड़े स्वार्थ को सीखने के लिए अनेक साधना करनी पड़ती हैं। माता वचपन से वालक को पालती है, प्यार करती है, उसके लिए अनेक प्रकार के त्याग करती है। माता के साथ प्रेम स्वाभाविक है। किन्तु माता यदि सारे ग्राम के सर्वनाश पर उतारू हो तो स्वाभाविक मातृ-प्रेम को दवाकर ग्राम के हित के लिए माता को दण्ड देने में जो हृदय की कठोरता अपेक्षित है वह साधना माँगती है। इसी लिए प्रायः छोटे और बड़े स्वार्थ में विरोध रहता है। और छोटे स्वार्थ का पलड़ा भारी रहता है, जब तक कि विशेष

साधना द्वारा उसे उलट न दिया जाय। किन्तु इन दो आपाततः विरोधी प्रेमों का समन्वय असम्भव नहीं।

परन्तु प्रश्न उठता है समन्वय किस प्रकार हो? समन्वय का सूत्र है—"लघुतर प्रेम को बृहत्तर प्रेम का आधार बनाना।" उदाहरण के लिए यदि किसी ग्राम के निवासी अपने बच्चों को यह शिक्षा दें कि बच्चो! ग्राम की सेवा ही हमारी सच्ची सेवा है। जो ग्राम का अहित करता है वह हमारा अहित करता है। और जो हमारा अहित करके भी ग्राम का हित करता है वही हमारा सच्चा हितकारी है। यदि तुम हमारे सच्चे सपूत हो तो ग्राम के हित में सबसे आगे बढ़ो। अब कुटुम्ब-हित ही ग्राम-हित का आधार बन गया। अब कुटुम्ब का हित इसलिए किया जाता है कि उसमें ग्राम का हित है। और ग्राम के हित में ही कुटुम्ब की बड़ाई है। यह ग्राम-हित और कुटुम्ब-हित का समन्वय हो गया।

इन दो प्रेमों का होना आवश्यक नहीं। हो सकता है कि एक व्यक्ति के कुटुम्ब हो ही नहीं। वह सारे ग्राम को ही कुटुम्ब समझता हो। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि जिनका कुटुम्ब नहीं होता वह विश्व-प्रेमी होने के स्थान में पराकाष्ठा के स्वार्थी हो जाते हैं। जिसने किसी से प्रेम करना ही नहीं सीखा वह विश्व को क्या

प्रेम करेगा ? जिसने कुटुम्ब से प्रेम किया है उसे तो समझा सकते हैं कि अब संसार को ही कुटुम्ब समझो। परन्तु जिसने कुटुम्व से भी प्रेम नहीं किया उसे क्या कहकर समझावे ? जिसने खाँड खाई हो उसे कह सकते हैं कि खजूर खाँड के समान मीठी होती है। परन्तु जिसने खॉड ही न खाई हो उसे खजूर का स्वाद कैसे समझावे ? उसे तो खजूर का स्वाद खजूर खाने पर ही समझ में आ सकता है। और यदि खजूर मिलती न हो, खॉड खाई न हो, तो उसे खजूर का स्वाद किसी प्रकार भी नहीं समझाया जा सकता। ठीक इसी प्रकार जिसने देश से प्रेम किया है उसे कह सकते हैं कि जैसा प्रेम देश से किया है वैसा ही अब संसार से करो। किन्तु जिसने देश से प्रेम किया ही नही उसे विश्व-प्रेम कैसे समझावें। यह ठीक है कि कई सिद्ध मनुष्य सीधे विश्व-प्रेम को समझ लेते हैं। जैसे खजूर के देश में पैदा होनेवाले पहिले खजूर का स्वाद जानते हैं पीछे खॉड का। इसी प्रकार कई मनुष्यों में विशालतर प्रेम स्वाभाविक होता है, और, लघुतर पीछे आता है अथवा नहीं भी आता। परन्तु इस श्रेणी के लोग अति दुर्लभ हैं। करोड़ों में एक, और युगों के पीछे, जन्म लेते हैं। साधारण मनुष्यों में तो प्रेम का

विकास समन्वय के द्वारा, धीरे-धीरे छोटे प्रेम से बड़े की ओर जाने से, आयु के साथ-साथ होता है। किन्तु विश्व-प्रेम का दम भरनेवालों की संख्या अपार है। यह विश्व-प्रेम की आड़ में स्वार्थ और कायरता को छिपानेवाले नीच, कपटी, दम्भी ही विश्व-प्रेम को बदनाम कर देते हैं। और हिटलर मुसोलिनी इसी प्रकार के दम्भियों के विरुद्ध मूर्त्तिमती प्रतिक्रिया हैं।

इस प्रतिक्रिया को समझने के लिए इसके इतिहास की ओर जाना होगा। इस संसार में क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा जो विचारों का विकास होता है उसका अध्ययन बड़ा हृदयग्राही है। विचारों का विकास प्राय: तीन कोटियों में से गुज़रता है। वह तीन कोटियाँ हैं—अन्वय, प्रतिव्यय और समन्वय। बालकों की प्रवृत्ति अन्वय-शील होती है। वे एकरुखे होते हैं। युवावस्था प्राय: प्रतिव्यय-शील होती है। और विचारवानों की वृद्धावस्था समन्वय-शील होती है। बालकपन में, खेलनेवालों में जा बैठे तो खेल में ही रम रहे, कथा सुनने गए तो कथाओं का ही पागलपन हो गया। यह एक ही आदत के पीछे पड़ जाने की प्रवृत्ति अन्वय की प्रवृत्ति है। फिर युवावस्था तक पहुँचते तक, किसी को खेल में हानि हुई तो खेल के दुश्मन हो गए, कथा

में दो-चार वार ठगे गए तो कथा के नाम से जलने लगे और सब धार्मिक लोगों को ढोंगी आदि नाम से पुकारने लगे, यह प्रवृत्ति होती है। इस उलटकर वहनेवाली प्रवृत्ति का नाम प्रतिव्यय की प्रवृत्ति है। फिर धीरे-धीरे वहुत-से लोग, समय पर खेलना, समय पर पढ़ना, उन्नति की ओर ले जानेवाली कथा में जाना, कथा का नाम सुनते ही भाग न पड़ना, इस प्रकार दो विरोधी धाराओं के समन्वय द्वारा तीसरा मार्ग निकाल लेते हैं।

संन्यास-आश्रम को समझने के लिए हमें इस समन्वय के मर्म को समझना होगा।

आज संसार का क्या हाल है? होना तो चाहिए देवासुर संग्राम। संसार-भर के देव संसार-भर के असुरों को मिटाने में लगे हों। ब्राह्मण उन्हें उपदेश द्वारा और क्षत्रिय दण्ड द्वारा मिटावें। किन्तु हो यह रहा है कि संसार-भर के असुरों का पूर्ण सङ्गठन है। और देवलोग उनकी कठपुतली बनकर आपस में लड़ रहे हैं। शराव वेचनेवाले, कोकेन वेचनेवाले, भांग, चरस, अफीम वेचनेवाले, स्त्रियों का व्यापार करनेवाले, संसार-भर में एक हैं। उनमें देश, जाति, धर्म का कोई भेद नहीं। उनका विश्व-व्यापी सङ्गठन है और

ऐसा उत्तम सङ्गठन है कि पीरू से चलकर कोकेन पेशावर के बाज़ारों में बिकती है। पीरू से पेशावर तक न-जाने कितने देशों की पोलिस बराबर इस व्यापार को रोकने में लगी है। परन्तु भाषा, देश, समुद्र, पर्वत, सबकी बाधाओं को लाँघकर कोकेन फिर भी पेशावर के बाज़ारों में पहुँच जाती है। यह तो है असुरों का सङ्गठन।

अब देखिए देवताओं को। आज यदि इङ्गलैण्ड और जर्मनी का युद्ध हो तो दोनों देशों के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य, जो अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि प्राण भी, हँसते-हँसते देश की सेवा में दे जावें, ऐसे देवता तो आपस में एक-दूसरे की हत्या करेंगे, और, दोनों देशों के स्वार्थी, दुराचारी, शराब, कोकेन, भोग-तृष्णा का व्यापार करनेवाले, मौज उड़ावेंगे।

देश-भक्ति के इस दुष्परिणाम से घबराकर कार्ल-मार्क्स विश्व-प्रेम की ओर भागे। यह देश-भक्ति से प्रति-व्यय तथा विश्व-प्रेम की ओर अन्वय की अवस्था थी। इस अंधे अन्वय में कार्लमार्क्स यह भूल गए कि साधारण मनुष्य सीधा विश्व-प्रेम की ओर नहीं भाग सकता। और यदि भागने का यत्न करे तो उसका देश-प्रेम भी जाता रहता है। ब्रह्माण्ड पर प्रकाश करना सूर्य का ही काम है। दीपक यदि अपनी चिमनी से निकल

पड़े तो ब्रह्माण्ड में प्रकाश करना तो दूर रहा, पवन के झोंके से अपनी नन्हीं-सी ज्वाला भी खो बैठता है। प्रकाश बढ़ाने के लिए ढकना उठाना ही पर्याप्त नहीं, ज्वाला भी बढ़ानी पड़ती है। कार्लमार्क्स ने इसी तत्त्व को भुला दिया। परिणाम यह हुआ कि उनके अनुयायियों ने विश्व-प्रेम की आड़ में अत्यन्त स्वार्थमय जीवन बिताना आरम्भ किया। जिससे जो प्रतिव्यय हुआ उसी के फल आज हिटलर और मुसोलिनी हैं। साम्यवादी यदि चाहें कि हिटलर और मुसोलिनी को गाली देकर वे फासिज्म को संसार से मिटा दें, तो यह ऐसा ही असम्भव है जैसा फासिस्टों का साम्य-वादियों को गाली देकर मिटा देने का यत्न करना। किन्तु यदि फासिस्ट लोग भी स्वदेश तक ही रह गए तो विश्व-व्यापी युद्ध अवश्य होकर रहेगा। और उसमें न हिटलर के देश का भला है, न मुसोलिनी के देश का।

इसलिए आवश्यकता है समन्वय की। जिस प्रकार फासिस्ट देश कुटुम्ब-प्रेम और देश-प्रेम का समन्वय करते हैं, इसी प्रकार देश-प्रेम और विश्व-प्रेम का समन्वय करने का समय आ गया है। क्या हरएक इटैलियन इस बात में गौरव नहीं मानता कि धन्य है मेरा कुटुम्ब जिसने देश के लिए इतना त्याग किया। ठीक

इसी प्रकार अब हरएक देश कहे कि धन्य है मेरा देश जिसने विश्व के कल्याण के लिए इतना त्याग किया। समाजवादी "मेरा कुटुम्ब, मेरा देश" इस भावना को बिलकुल मिटाना चाहते हैं। भारतवासी "मैं" से आगे बढ़ते हैं तो "मेरा कुटम्ब" तक पहुँचते हैं "मेरा देश" तक भी नहीं पहुँच पाते। फासिस्ट लोग "मेरा देश" से आगे बढ़ना ही नहीं चाहते। जिस प्रकार "विश्व-प्रेम" के प्रचार न होने से फूट फैलती है उसी प्रकार "मेरा देश" की भावना मिटने से स्वार्थ घेर लेता है। इसलिए "मेरा देश" और "मेरा संसार" के समन्वय की आवश्यकता है। "मातृ-भूमि" से "भूमि-माता" तक पहुँचने का समय आ गया है। यह समन्वय ही अगले युग का सन्देश है।

परन्तु यह समन्वय लाए कौन ? यहाँ फिर कार्ल-मार्क्स ने भूल की। वे बोले इस समन्वय को लाएँगे श्रमजीवी। उन्होंने आन्दोलन किया संसार के श्रम-जीवियो इकट्ठे हो जाओ। मार्क्स ने अपने आन्दोलन का यदि एकमात्र आधार स्वार्थ और ईर्ष्या को नहीं बनाया तो कम-से-कम इन्हें मुख्य स्थान तो अवश्य दिया। रूस के लोग भूख से व्याकुल थे। उन्हें समझाना सुगम था। परन्तु जहाँ की प्रजा भूख से

व्याकुल नहीं वहाँ कोई आन्दोलन स्वार्थ के नाम पर खड़ा नहीं किया जा सकता। यह एक गोरखधंधा है कि स्वयं स्वार्थ-त्याग की मूर्त्ति होने पर भी मार्क्स और लेनिन स्वार्थ-भावना के प्रचारक हुए। और यह आन्दोलन बिलकुल नष्ट हो जाता यदि इन महात्माओं का त्यागमय जीवन साथ न होता। यदि मनुष्य का ध्येय रोटी के लिए जीना है तो मार्क्स और लेनिन को तो पेट-भर से भी अधिक रोटी मिलती थी, वे रोटी का त्याग करके आदर्शों के लिए क्यों जिए? इसका साम्यवादियों /के पास कोई उत्तर नहीं। तुम जो प्रतिदिन कहते हो हमें भगवान् का नाम मत दो, रोटी दो, सो अपनी रोटी के लिए लड़ते हो कि मनुष्य-मात्र की रोटी के लिए? यदि अपनी रोटी के लिए लड़ते हो, तो पूँजीपति ने क्या अपराध किया है? यदि अपने दुःखी भाइयों की रोटी के लिए लड़ते हो, तो ईश्वर-भक्तों ने क्या अपराध किया है जो हमें "*यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः" (यजु० ४०।७) का पाठ पढ़ाते हैं? सच तो यह है जनता ने धर्म-प्रचारकों के जीवन को सदा देखा है। उनसे तर्क नहीं

* जिस ईश्वर-साक्षात्कार की अवस्था में विज्ञानी पुरुष के लिए सब प्राणी अपना आत्मा ही बन जाते हैं।

किया। यही बात मार्क्स के साथ भी हुई। हज़ार शपथ खाने पर भी कोई यह नहीं मान सकता मार्क्स प्रकृति-पूजक (Materialist) था। यदि वह प्रकृति-पूजक था तो उसने जनता को ज्ञान क्यों दिया? अनेक कष्ट क्यों झेले? रोटी तो वह साधारण मज़दूरी से भी खा सकता था। इसलिए यह समझना भूल है कि संसार के श्रमजीवी संसार का कल्याण करेंगे। इसी भूल का फल यह हुआ कि साम्यवाद रूस की सीमा लाँघकर जर्मनी तक भी नहीं पहुँच सका।

यदि संसार को एक करेंगे तो श्रमजीवी नहीं, बुद्धि-जीवी करेंगे। संसार के मस्तिष्कों को इकट्ठा करो, हाथ-पैर स्वयं इकट्ठे हो जावेंगे। किन्तु संसार के मस्तिष्कों को इकट्ठा वे ही कर सकते हैं जो या तो क्रम-विकास से विश्व-प्रेम तक पहुँचे हों, अथवा जिनमें विश्व-प्रेम की ज्योति ऐसे अदम्य रूप से जाज्वल्यमान हो कि वह सूर्य के समान स्वयं चमके। विश्व-प्रेम का दम भरकर अन्धकार में चमकनेवाले जुगनू यह कार्य नहीं कर सकते। सो इस समय संसार को ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता है जिनके हृदय में पितृ-प्रेम, मातृ-प्रेम, भगिनी-प्रेम, भ्रातृ-प्रेम, गुरु-प्रेम, मित्र-प्रेम, कुटुम्ब-प्रेम आदि कोटियों में होता हुआ प्रेम

सच्चे विश्व-प्रेम के सूर्य के समान चमक उठे। अथवा उनको यह विश्व-प्रेम की विभूति जन्म से ही प्राप्त हो। इन लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा से ऊपर उठे हुए "देश-काल-जात्यनवच्छिन्न, सार्वभौम प्रेम के महाव्रत" में दीक्षित महापुरुषों का ही नाम संन्यासी है।

भारत को गौरव है कि दयानन्द, शङ्कर, रामकृष्ण परमहंस आदि अनेक पुरुष उसने इस पद के अधिकारी पैदा किये हैं। इस युग में भी महात्मा गान्धी के रूप में देश-प्रेम और विश्व-प्रेम का समन्वय मूर्त्तिमान् होकर संसार को मार्ग दिखा रहा है। धन्य है वह महापुरुष जो दिन-रात एक विदेशी शासन से लड़ाई करता हुआ भी हृदय में कभी द्वेष का लेश नहीं आने देता! और जिसके हृदय का विश्व-प्रेम का भण्डार फिर भी अखूट-का-अखूट है!

ऐसे महापुरुषों के पीछे चलनेवाले वेल्स (H. G. Wells) जैसे अनेक विद्वान् हैं जो इस संसार को मार्ग दिखा रहे हैं। यह हमारा दौर्भाग्य है कि हमारा सङ्गठन न होने के कारण हम एक-दूसरे को जानते ही नहीं।

यह जो एक ओर चालीस लाख हिटलर की, और, दूसरी ओर चालीस लाख स्टालिन की संगीनें तनी हुई

हैं, इन प्रलयङ्कारी प्रतिक्रियों का समन्वय संन्यासियों से परिचालित बुद्धिजीवियों की सेना ही कर सकती है। इस सेना के नासीर (Vanguard) का नाम ही ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज रक्खा था। वह समाज आगे क्या करेगा, यह भविष्य के गर्भ में लीन है। परन्तु संसार संन्यासियों की प्रतीक्षा में है। और, भविष्य का आन्दोलन "श्रमजीवियों को इकट्ठा करो" नहीं किन्तु "बुद्धिजीवियों को इकट्ठा करो" यह होगा। उनके इकट्ठा होने के लिए सच्चे नेता संन्यासियों की आवश्यकता है। यह है चौथे आश्रम की महिमा !

इस वर्णाश्रम-व्यवस्था के विना संसार का निस्तारा नहीं। अन्त में इस अध्याय को महामना वेल्स (H. G. Wells) के शब्दों के साथ समाप्त करते हैं— "It is in the ineradicable disinterested integrity which this priestly learned class alone has fostered that the future of humanity lies."* (The Work Wealth and Happiness of Mankind, P. 313) वेल्स के इसी

---

* इस शिक्षित पुरोहित वर्ग ने अमिट और निःस्वार्थ सत्यप्रियता को जो पाला-पोसा है उसी पर मनुष्य-जाति का भविष्य निर्भर करता है।

"पुरोहित वर्ग" (Priestly Learned Class) का नाम ब्राह्मण-वर्ण है। और इसके सेनापतियों का नाम संन्यासी है। संसार का कल्याण वर्ग-हीन समाज (classless society) में नहीं किन्तु आदर्श वर्ग-रचना और वर्ग-सामञ्जस्य (True classification) में है।

प्रभु हमें बल दें कि हम वर्णाश्रम-व्यवस्था का उद्धार करने में समर्थ हों।

७

जलौघ

चाहती है। शतपथ-ब्राह्मण में इन भोग्यपदार्थों को "इडा" और प्रजा की वृद्धि को "जलौघ" कहा गया है। यह युद्ध समाज की व्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

हमने वर्ण और आश्रम की जो व्यवस्था ऊपर कही है उसके होते हुए भी यदि जनसंख्या की वृद्धि इतनी अधिक हो जाय कि भोग्यपदार्थ रहें ही नहीं तो सारी शिक्षा धरी-की-धरी रह जाती है। जब पेट में अन्न न पड़े तो बड़े-से-बड़े महापुरुषों का धैर्य भी डाँवाडोल हो जाता है। और मान भी लीजिए कि समस्त धरती पर दो-चार पुरुष धैर्य-पूर्वक मर गए तो क्या हुआ? शेष लोग तो एक-दूसरे को खाने में ही प्रवृत्त होंगे। इसलिए आवश्यक है कि मनुष्य-समाज की उन्नति के लिए जनसंख्या की वृद्धि का भी नियन्त्रण किया जाय। इस विषय में आजकल बड़ा आन्दोलन चल रहा है। विषय है भी इतना महत्वपूर्ण कि इसका निर्णय परमावश्यक है।

इस विषय में वेद कहता है कि "अदारसृद् भवतु" (अथर्व० १।२०।१) अर्थात्, "जो मनुष्य दुष्ट सन्तति उत्पन्न करेगा उसका स्त्री-सम्बन्ध ही नहीं होना चाहिए।" वस्तुतः इस सम्बन्ध में जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के चार उपाय बताए जाते हैं—

(१) ब्रह्मचर्य।

(२) राज्य द्वारा अयोग्य लोगों को सन्तानवृद्धि के अयोग्य बना देना।

(३) कृत्रिम उपायों द्वारा गर्भ-निरोध।

(४) गर्भ-पातन।

इसमें तो सन्देह ही नहीं हो सकता कि जनसंख्या की अतिवृद्धि को रोकने का सर्वश्रेष्ठ उपाय ब्रह्मचर्य है। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि सुदूर भविष्य तक इस उपाय का सर्व-साधारण द्वारा अवलम्बन असम्भवकल्प है। और अति दूर भविष्य में भी सब लोग इस उपाय का अवलम्बन करने योग्य हो जावेंगे ऐसा समझना कोरी कल्पना-सी दीखती है। इसलिए राष्ट्र को राज्य-नियम द्वारा भी बहुत-से लोगों को सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य बनाना ही पड़ेगा। इस विषय पर बहुत विस्तार से एक स्वतन्त्र-ग्रन्थ लिखना आवश्यक है जिसमें मनु आदि महर्षियों से लेकर वर्तमान युग के विचारकों तक ने इस विषय में जो विचार किया है उस सबका मन्थन किया जाय। परन्तु इस ग्रन्थ में इस पर अधिक विस्तार से इसलिए नहीं लिखते कि अभी मनुष्य-जाति के सामने अभाव का प्रश्न इतना प्रबल नहीं जितना अन्याय का है। वर्तमान-युग में

प्रजा इसलिए भूखी नहीं मर रही कि अन्न उत्पन्न नहीं होता। इस समय तो भूखे मरने का कारण अन्याय है। अन्न तो इस समय इतना उत्पन्न होता है अथवा हो सकता है कि इससे दुगुनी प्रजा भी खा सके।

अब गर्भ-निरोध अथवा गर्भ-पातन पर विचार करना भी आवश्यक है। इनमें गर्भ-पातन अत्यन्त हानिकारक है। इस विषय में भी दो मत नहीं हैं। इसलिए गर्भ-निरोध के सम्वन्ध में ही विचार करना आवश्यक है। यह वात निर्विवाद है कि गर्भ-निरोध का ऐसा कोई उपाय अभी तक पता नहीं लग सका जिससे शरीर को किसी प्रकार की हानि न हो। किन्तु यह तो व्यक्ति की दृष्टि से विचार हुआ। परन्तु यह प्रश्न तो राष्ट्रिय है। राष्ट्र की दृष्टि से जहाँ संख्या की अतिवृद्धि हानिकारक है, वहाँ गर्भ-निरोध के प्रचार से राष्ट्र के वीजनाश के भय को भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। साथ ही यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि प्रायः इन विचारों का प्रभाव उन लोगों पर होता है जो अपने कर्तव्य और उत्तर-दायित्व को समझते हैं। जिसका परिणाम यह हो रहा है कि उत्तरदायित्वहीन असुर लोगों की संख्या बढ़ रही है और परोपकार-परायण देव लोगों की संख्या

घट रही है। जिस उद्देश्य से यह सिद्धान्त चलाया गया था उससे ठीक उलटा परिणाम हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के प्रचार से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही है।

इसलिए जब तक भूमि पर बसनेवालों के लिए पर्याप्त स्थान है, अर्थात् भोजनादि उत्पन्न करने के लिए भी पर्याप्त स्थान है, तब तक तो यह प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। किन्तु भविष्य में यदि कभी यह कठिनाई उपस्थित हो तो उस समय के स्मृतिकारों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि कभी उन्हें प्रजा के हित के लिए इस प्रकार के उपायों को प्रचलित करना अनिवार्य जान पड़े, तो यह अधिकार व्यक्तियों के हाथ में न होना चाहिए। हाँ, यदि राज्य की ओर से इस काम के लिए नियुक्त जितेन्द्रिय वैद्य लोग किसी दम्पती की शारीरिक अवस्था देखकर यह समझें कि उनके लिए ऐसे उपाय आवश्यक हैं तो उन्हें इस प्रकार के साधनों का प्रयोग करने का अधिकार दिया जा सकता है। वर्तमान अवस्था में भी राज्य यदि इस अधिकार को अपने हाथ में ले ले तो कई अवस्थाएँ ऐसी हो सकती हैं जिनमें इन उपायों के प्रयोग की आज्ञा दी जा सके। परन्तु व्यक्ति के अधिकार में देने से तो राष्ट्र का सर्व-

नाश अवश्यम्भावी है। जो लोग इस विषय के निरंकुश अधिकार प्रचलित करना चाहते हैं और अन्धाधुन्ध इस प्रकार के प्रचार में लगे हैं उन्हें पाल ब्यूरो (Paul Bureau) की टुवर्ड्स मौरल बैंक्रप्सी (Towards Moral Bankruptcy) पुस्तक का अध्ययन आवश्यक है। इस पुस्तक के अध्ययन से उनकी आँखें अवश्य खुल जावेंगी। वर्णाश्रम में विश्वास रखनेवालों को तो निःशङ्क जनसंख्या की वृद्धि करनी चाहिए। क्योंकि उनकी सन्तान अवश्य ही उत्तम कोटि की होगी। सो जीवन-संग्राम में उनकी अवश्य ही विजय होगी। और यदि नष्ट ही होना होगा तो अयोग्य लोग उनके सामने स्वयं नष्ट हो जावेंगे। सारांश यह कि जितेन्द्रिय, वेदवेदाङ्ग-तत्वज्ञ, विद्वान् वैद्यों की सम्मति से यदि राजा किन्हीं दम्पती को गर्भ-निरोध के कृत्रिम उपायों की अनुज्ञा दे दे तो भले ही दे दे। परन्तु सामान्येन यह उपाय निन्दनीय ही हैं। और आजकल जो इनका प्रचार हो रहा है वह तो कमचोरी, आलस्य, स्वार्थ और विलासिता का परिणाम है। कुशल इतनी है कि ऐसे लोग स्वयं ही अपना बीजनाश करने पर तुले हैं। तो उन्हें और क्या कहना? परन्तु धार्मिक लोगों को ऐसे पुरुषों की

सङ्गति से सदा ही बचना चाहिए। क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्ति पुरुषार्थ की ओर बड़ी कठिनता से होती है। और, आलस्य की ओर तो अनायास ही हो जाती है।

जो भी हो इस बात को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि जन-संख्या की अतिवृद्धि भी युद्ध आदि विपत्तियों का कारण होती है। इसलिए मानव-जाति के हितकारियों को इसका ध्यान सदा करना उचित है। और इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय इन्द्रिय-संयम है। प्रभु मानव-जाति को बल दें कि जो बात आज असम्भव-कल्प दीखती है, वह किसी दिन सुगम प्रतीत होने लगे।

८

श्रमजीवियों का हित और निरीश्वरवाद

कार्लमार्क्स उठे। उठकर संसार के श्रमजीवियों को उठाया। कार्लमार्क्स जागे। संसार के श्रमजीवियों का भाग्य जागा। उनमें नई स्फूर्ति, नई उमंग, नये जोश, का प्रादुर्भाव हुआ। अभागे हैं वे जो इस नई ज्योति का स्वागत न करें। परन्तु इस ज्योति के साथ जो धूम लगा हुआ है उससे बचने का उपाय न करना भी कर्तव्य से च्युत होना होगा। वह धूम है निरीश्वरवाद। सृष्टि के आदि से आज तक का इतिहास यही दिखाता है कि प्रभु भक्तों ने सदा दुःख-पीड़ित प्रजा का साथ दिया और अत्याचारियों को

सन्मार्ग ही दिखाया। ऐसा करने में उन्हें स्वयं बड़ी-से-बड़ी पीड़ा भी उठानी पड़ी। परन्तु फिर भी वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए। यही नहीं। उनकी लोक-सेवा में शत्रुओं के प्रति भी प्रेम का दूध बरसाने-वाली एक मधुर नम्रता अपनी दिव्य आभा से जगमगाती रही है। फिर भी न मालूम इस समय श्रमजीवियों के पक्षपातियों ने ईश्वर और उसके भक्तों को निरन्तर गाली देने का कृतघ्नतापूर्ण ठेका क्यों ले लिया है।

ईश्वर है। उसकी सत्ता तर्क और भक्तों के प्रत्यक्ष से प्रमाणित है। परन्तु इस समय न तो हमें तर्क वा प्रत्यक्ष की दुहाई देनी है न कृतज्ञता और कृतघ्नता के प्रश्न को उठाना है। न संस्कृति के नाम पर अपील करनी है।

इस समय तो हमें श्रमजीवियों का उपकार चाहने-वाले समाजवादियों से, दूर-दर्शिता के नाम पर, केवल इतना कहना है कि श्रमजीवियों का शोषण करनेवाले पूँजीपतियों से हमें उतना ही घोर युद्ध करना है जितना आपको। हमारी और आपकी युद्ध-पद्धति में थोड़ा भेद है। आप पूँजीपतियों को किसी लोकान्तर के जीव मानते हैं। हम उन्हें अपने-सरीखा सहृदयता और स्वार्थ का विचित्र मेल समझते हैं। उन्हें भी

मनुष्य समझते हैं। और उनमें से जितनी अधिक-से-अधिक संख्या को प्रेम से जीतकर मनुष्य-समाज की सेवा में लगाया जा सके लगाना अपना कर्तव्य समझते हैं। और दण्ड का प्रयोग केवल उनके लिए आवश्यक समझते हैं जिनकी आत्मा किसी प्रकार जागृत न हो सके। किन्तु दूसरी ओर आप उन्हें दण्ड का पात्र समझकर इस वर्ग को ही समूल नष्ट करना चाहते हैं। परन्तु यह भेद ऐसा नहीं है कि इसके लिए वर्णाश्रमियों तथा समाजवादियों की सेना कन्धे-से-कन्धा मिलाकर पूँजीपतियों से युद्ध करने न चले। पूँजीपति इस समय संसार के लिए एक यातना बने हुए हैं। उनसे संसार को छुटकारा देना दोनों का एकाग्र ध्येय है। ऐसी अवस्था में अनावश्यक प्रश्नों को बीच में लाकर इस पूँजीपति-विरोधिनी सेना में परस्पर फूट डालना बुद्धिमत्ता का मार्ग नहीं है। किन्तु न-जाने क्यों समाजवादी नेताओं ने इस समय एक अनावश्यक कलह को बीच में घुसेड़ दिया है? वह है निरीश्वरवाद का आन्दोलन! श्रमजीवियों का हित करने के लिए भगवान् को गाली देना क्यों आवश्यक है यह बिलकुल भी समझ में नहीं आता। उलटा इस गाली-प्रदान का फल यह होता है कि श्रमजीवियों का कष्ट-निवारण करने

की अदम्य ज्वाला हृदय में धारण किए हुए अनेक लोग इस सेना से परे हट जाते हैं। और बहुत-सों को तो श्रमजीवी आन्दोलन के नाम से ही घृणा हो जाती है। समाजवादियों को उचित है कि वह लोग व्यर्थ ही इस झगड़े को बीच में न लावें।

दूसरी ओर हमारी प्रभु-भक्तों से अपील है कि आपकी भक्ति की तो परीक्षा ही सहन-शीलता में है। भगवान् को गाली देने से भगवान् को कोई दुःख तो पहुँच नहीं जायगा। हाँ, भगवान् को गाली देनेवाले लोग भक्तिरस से प्राप्त होनेवाली सरसता न पाने से अभिमान की आग से तप्त होकर स्वयं दग्ध हो जावेंगे। इसलिए यदि भगवान् के विरोधी किसी भावना के पात्र हैं तो करुणा के न कि रोष के। उन्हें अपने भूले भाई समझकर प्रभु की पीडित प्रजा की सेवा में लग जाइए। आपके कट्टर-से-कट्टर विरोधियों का विरोध इस दूध में बताशे की तरह घुले बिना नहीं रह सकेगा। प्रभो कृपा कीजिए जिससे श्रमजीवियों के यह सच्चे हितैषी परस्पर कलह छोड़कर आपकी प्रजा की सच्ची निष्काम सेवा में लगे रहें।

९

वर्णाश्रम-आन्दोलन और व्यावहारिकता

एक बड़ा आक्षेप जो वर्णाश्रम के उद्धार के आन्दोलन पर उसके समझदार विरोधियों की ओर से किया जाता है वह इसकी अव्यवहार्यता का आक्षेप है। प्रथम तो यह आक्षेप है ही स्वास्थ्य की कमी का परिणाम। जो लोग, किसी आन्दोलन को, युक्तियुक्त और वाञ्छनीय समझते हुए भी, उसे केवल अव्यवहार्यता के नाम पर रोकना चाहते हैं, वह स्पष्ट शब्दों में यही कहते हैं कि काम तो अच्छा है पर करे कौन? करने-वाला कोई और निकल पड़े तो साथ हम भी चल पड़ेंगे। ऐसे लोगों का स्वास्थ्य कुछ-न-कुछ बिगड़ा हुआ

है ऐसा मानना ही चाहिए। नहीं तो वे ऐसी कायरता की बात क्यों कहें ?

फिर यदि युक्ति से सोचा जाय तो भी यह समझ में नहीं आता कि समाजवाद के आन्दोलन की अपेक्षा इस आन्दोलन को सफल बनाना क्यों कठिन है। आप राष्ट्र की सम्पत्ति के प्रश्न को ले लीजिए। समाज-वादियों की दृष्टि में राष्ट्र के सब पूँजीपतियों की सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए। वर्णाश्रमवादियों की दृष्टि में केवल अयोग्य अर्थात् सम्पत्ति का दुरुपयोग और श्रमजीवियों का शोषण करनेवाले पूँजीपतियों की सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए। अब विचारिए कि सबकी सम्पत्ति छीन लेना अधिक व्यावहारिक है वा कुछ की छीन लेना। यह तो साधारण गणित का प्रश्न है। सबकी अपेक्षा कुछ की संख्या कम है। इसलिए उसमें श्रम भी कम लगेगा।

फिर यह भी देखना चाहिए कि जब योग्य-अयोग्य सबको एक-सा दण्ड दे दिया जाय तो इस अन्याय से जो भीषण अग्नि उत्पन्न होती है वह वर्णाश्रम-आन्दोलन के विरुद्ध कभी नहीं उठ सकती।

कुछ लोग इसे इसलिए अव्यवहार्य मानते हैं कि कौन योग्य है और कौन अयोग्य है यह एक व्यर्थ का

नया झगड़ा पीछे लग जायगा। परन्तु वे लोग विचार करें कि इस झगड़े से तो कभी किसी राज्य का छुटकारा हो ही नहीं सकता। क्या समाजवादियों के राज्य में प्राणदण्ड या अन्य कठोर दण्ड नहीं हैं? यदि हैं तो क्या वहाँ कौन दण्ड के योग्य है और कौन अयोग्य इस का निर्णय किए विना ही दण्ड दे दिये जाते हैं? यदि वहाँ प्राण-दण्डादि के सम्बन्ध में योग्यता और अयोग्यता का निर्णय हो सकता है तो सम्पत्ति के उपयोग-अधिकार की योग्यता वा अयोग्यता के निर्णय ने क्या अपराध किया है कि उसे अर्धचन्द्र दे दिया जाय?

कई लोगों का यह भी कहना है कि यह वर्ण-व्यवस्था तो स्वतन्त्र राष्ट्रों में ही चल सकती है। भारत के समान पराधीन राष्ट्रों में इसका चलना असंभव है। इन लोगों को भी विचारना चाहिए कि हर राष्ट्र में दो प्रकार के लोग होते हैं। एक वह जो राज्य के दण्ड के भय से ही किसी मर्यादा में चल सकते हैं। दूसरे वे जिनकी मर्यादा के पीछे राज्यदण्ड चलता है। सो यह तो ठीक है कि पराधीन राष्ट्रों में वर्णाश्रम-व्यवस्था का पूर्ण प्रचार तो पराधीनता के नष्ट होने पर ही होगा। परन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि पराधीनता नष्ट भी तो उन्हीं के उद्योग से होगी जो स्वेच्छा से

अपने-आपको वर्णाश्रम-व्यवस्था से सुसंगठित करके पराधीनता की बेड़ियाँ काटने चलेंगे। यह ठीक है कि ऐसे पुरुषों की संख्या थोड़ी होगी। परन्तु वह मुट्ठी-भर लोग "*गणाद् गुणो गरीयान्" के सिद्धान्तानुसार शेष सारी संख्या से अधिक महत्व रखते हैं। इसलिए संसार के नवयुवको, उठो, अव्यवहार्यता का जाप रोगियों और कायरों के लिए छोड़ दो। भविष्य-संसार का उज्ज्वल भविष्य तुम्हारे हाथ में है।

* संख्या से योग्यता बड़ी है।

१०

वर्णाश्रम-संघ

१. उसका इतिहास और कार्यक्रम

पिछले अध्यायों में जिन विचारों का प्रकाश किया गया है उन्हीं से प्रेरित होकर १९३४ के नवम्बर मास की ६ तारीख को कुछ उत्साही लोग मेरे साथ मॉडल डेयरी फार्म देहरादून में इकट्ठे हुए। उनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

श्रीयुत स्वराज्यकृष्णजी, श्री वेदप्रकाशजी, श्री अमृतकुमारजी, श्री केदारजी, श्री गौरीशङ्करजी, श्री सुरेन्द्रनाथजी, श्री व्रतपालजी, श्री विनयचन्द्रजी, श्री विपिनचन्द्रजी, श्री एन० चमनजी।

इस बैठक में सङ्घ का जो ढाँचा नियत हुआ उसी का परिष्कृत रूप इस समय इसके नियमों के रूप में उपस्थित है। विधिपूर्वक यज्ञ के पश्चात् सङ्घ का कार्य-क्रम निश्चय करके सङ्घ के सब सभासदों ने मसूरी की यात्रा की। यह यात्रा सङ्घ के भावी-इतिहास की सूचना दे रही थी। किस उत्साह से सङ्घ के सब नव-युवक सभासद् मेरे साथ पहाड़ की चोटी की ओर चढ़ रहे थे वह दृश्य मैं कभी भुला नहीं सकता। फिर उसके पश्चात् कुछ समय तक यह कार्य शिथिल-सा पड़ा रहा। मैं व्याख्यानों द्वारा इन विचारों का प्रचार करता रहा। और इस बात के उद्योग में भी लगा रहा कि आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, वर्णाश्रम सङ्घ के कार्य-क्रम को अपनाले। किन्तु फिर यह विचार कर कि लोकतन्त्र की विचार-धारा ज्वार-भाटे की तरह नित्य बदलती रहती है, इसलिए इस आन्दोलन को स्थिर बना देना चाहिए, १६३६ की १४ जुलाई को वर्णाश्रम सङ्घ के नाम से एक संस्था लाहौर में रजिस्टर करा ली गई। इसी संस्था के हाथ में अब सङ्घ का भावी कार्यक्रम है।

अस्तु रजिस्ट्रेशन के पश्चात् सङ्घ का प्रथम वार्षिक अधिवेशन युक्त-प्रान्तीय आर्यप्रतिनिधि सभा की स्वर्ण-

जयन्ती के अवसर पर (दिसम्बर १९३७) मेरठ में हुआ। यहीं यह निश्चय हुआ कि सङ्घ का वार्षिक अधिवेशन सदा विजयादशमी पर हुआ करे। इस निश्चयानुसार दूसरा अधिवेशन लाहौर में ३ अक्तूबर १९३८ को विजयादशमी के दिन हुआ। इस अधिवेशन में एक ग्राम वसाने का संविधान उपस्थित किया गया।

२. ग्राम वसाने की योजना

वही ग्राम वसाना सङ्घ का भावी कार्य-क्रम है। इस ग्राम में ८ ब्राह्मण, ११ क्षत्रिय, २१ वैश्य और यथापेक्षित शूद्र लोग पहिले-पहिल वसेंगे।

३. ब्राह्मणों की वस्ती

वेद में सात विद्याओं के जाननेवाले सप्त सूर्यों का वर्णन आता है। वह सात महाविद्या इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्म-विद्या।

(२) जीव-विद्या।

(३) प्रकृति-विद्या।

(४) आहार-विद्या अथवा अर्थवेद।

(५) रक्षण-विद्या अथवा धनुर्वेद।

(६) आयुर्वेद।

(७) गान्धर्ववेद।

सङ्घ में ब्राह्मणवर्ण में दीक्षित होनेवाले नव-युवक

लोग ७ ग्रामों के बीच एक केन्द्रीय स्थान ढूँढकर बसाए जावेंगे। वहाँ रहकर वे सप्ताह में एक दिन प्रत्येक ग्राम में साधारण ज्ञान तथा साक्षरता का प्रचार करेंगे। इस प्रचार से बचनेवाला समय वे अपने लिए चुनी हुई विद्या के अभ्यास में लगाएँगे। ७ ग्रामों के केन्द्र में उनका आश्रम होगा। जहाँ वह परिवार-सहित रहेंगे। आश्रम में उनके लिए उनकी अपनी विद्या के सम्बन्ध में छोटा-सा पुस्तकालय भी रहेगा। इन आश्रमों की सङ्घ की ओर से यथासम्भव सहायता की जायगी। परन्तु इनकी वास्तविक सफलता कार्य-कर्त्ता ब्राह्मणों के तप और विद्या के प्रभाव पर निर्भर होगी। उनका कर्तव्य है कि अपने प्रभाव से ग्रामवासियों को इतना मोहित कर ले कि ग्रामवासी आश्रम का भार स्वयं अपने ऊपर ले लें। इस बात का भी यत्न किया जायगा कि इन सब आश्रमों को रेडियो द्वारा आपस में जोड़ दिया जाय और केन्द्र से उनके लिए प्रतिदिन निर्देश मिला करें। इन आश्रमों में रहनेवाले जो ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ होंगे उन्हें केन्द्र के ७ ब्राह्मणों में स्थान दिया जायगा, जिससे कि इस गौरव को पाने के लिए सब आश्रमों के अध्यक्ष स्पर्धा-पूर्वक उद्योग करें।

४. क्षत्रियों की बस्ती

ब्राह्मणों के आश्रमों के साथ ही क्रीडाक्षेत्र बनाने का यत्न किया जायगा। इनमें भाग लेनेवाले लोगों में से चुने हुए ११ सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय केन्द्र में स्थान पाएँगे। वहाँ उनके इतिहास, राजनीति आदि के अध्ययन का पूरा प्रबन्ध होगा। और वे ग्राम की रक्षा करेंगे।

५. वैश्यों की बस्ती

वैश्य लोगों को व्यापार का बन्धन है। उन्हें जहाँ उनका व्यापार ले जाय वहीं जाना पड़ता है। इसलिए जो वैश्य लोग वहाँ न बस सकें वे अपना एक भवन इस ग्राम में अवश्य बनाएँगे। और अपने परिवार को अधिक-से-अधिक समय तक इस आश्रम में रक्खेंगे। जिनका व्यापार इस प्रकार का हो कि जो किसी भी स्थान से चलाया जा सके, वे नियमित रूप से केन्द्र ग्राम में रहेंगे।

ग्राम में बसनेवाले प्रत्येक वैश्य को ग्राम के एक-न-एक ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय के पालन-पोषण का पूरा भार अपने ऊपर लेना होगा। कौन किसका भार ग्रहण करे इसका निर्णय पूर्णतया वैश्य लोगों की इच्छा पर निर्भर होगा। परन्तु एक वार किया हुआ चुनाव विना किसी अत्यन्त विशेष कारण के बदला न जायगा।

६. शूद्रों की बस्ती

प्रयत्न किया जायगा कि ग्राम में शूद्रों का कार्य यथासम्भव यन्त्रों से लिया जाय। किन्तु जिन शूद्रों का बसना आवश्यक होगा उनको खाने, पीने, रहने आदि का सब सामान ब्राह्मणों के समान दिया जायगा।

७. कार्य की हल्की झाँकी

ग्राम के पूर्व भाग में एक विशाल पुस्तकालय होगा। उसके चारों ओर ७ महाविद्याओं के विद्वानों के आश्रम होंगे जिनमें वे मुख्यतया दिन-भर अपनी-अपनी विद्याओं का अध्ययन करेंगे। और बड़ी आयु के अति योग्य शिष्यों का अध्यापन भी यथावकाश करते रहेंगे। किन्तु उनका मुख्य कार्य अध्ययन होगा।

ग्राम से कम-से-कम दो मील की दूरी पर वानप्रस्थ-आश्रम बनेगा जिसमें ग्रामवासी गृहस्थ लोग वानप्रस्थ प्रवेश के समय जाकर बसेंगे। और उनके पास ग्राम-वासियों के बालक विधि-पूर्वक गुरुकुल में रहकर विद्याभ्यास करेंगे। गुरुकुल में जाने से पूर्व की शिक्षा ग्राम के बालकों को पुरोहितों द्वारा दी जायगी।

आरम्भकाल में ७ महाविद्याओं के विद्वान् ही पुरोहित कार्य भी करेंगे। किन्तु आवश्यकता होने पर अन्य ब्राह्मण भी पुरोहित कर्म के लिए बसाए जाएँगे, जिन

के पालन-पोषणादि का सम्पूर्ण भार यजमानों पर होगा।

कालान्तर में सङ्घ की शक्ति बढ़ जाने पर यह आदि-ग्राम किसी विशाल भूमि में ले जाया जायगा और वहाँ एक विशाल आदर्श-नगर की स्थापना होगी। यह ग्राम आदर्श-नगर का बीजरूप होगा। इसलिए इसका नाम प्रभात-नगर रक्खा जायगा।

यह नगर ही विश्व-भर में वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रचार का केन्द्र होगा। यथाशक्ति सङ्घ देश-देशान्तरों में इस प्रकार के नगर बसाएगा। और यदि सङ्घ को सफलता हुई तो उससे प्रेरित होकर सब लोग स्वयं इस प्रकार के नगरों की स्थापना करेंगे।

सङ्घ का प्रयत्न होगा कि इस पद्धति से सारे विश्व को एक संस्कृति दे, जिसमें सब संस्कृतियों का समन्वय हो। हो सके तो एक भाषा दे। सारे राष्ट्रों का एक राष्ट्र बना दे।

मैं सङ्घ की ओर से सब राष्ट्रों के नव-युवकों को निमन्त्रण देता हूँ कि वे अविद्या, अन्याय, और, अभाव के प्रति इस महायुद्ध की सेना में सम्मिलित हों। विश्व में देवों का देवों से युद्ध दूर हो। और सर्वत्र शान्ति का राज्य हो। हे देवाधिदेव! आइए, और इस सेना के सेनापति बनिए।

* ओ३म् । अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

साम० छन्द० १।१

† ओ३म् । भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रम् पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

यजु० २५।२१

‡ ओ३म् । स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

यजु० २५।१६

---

* हे ज्ञान और प्रकाश-स्वरूप प्रभो ! हम आपके गुणों का गान करते हैं, आप सब कुछ देनेवाले हो, हमें मंगल की प्राप्ति तथा चाहने योग्य पदार्थों के दान के लिए हमारे हृदय रूपी आसन पर विराजमान हूजिये।

† हे भगवन् ! हम कानों से सदा भली बातें सुनें, आँखों से भले दृश्य देखें, सगठन में रहें, दृढ़ अङ्गोंवाले होकर आपकी स्तुति करते हुए देव-हितकारी लम्बी आयु प्राप्त करें।

‡ अत्यधिक ज्ञानवाला वह परमैश्वर्यशाली भगवान् हमारे लिए मंगलकारी हो, सब प्रकार के धनोंवाला सबका पोषक वह भगवान् हमारे लिए मंगलकारी हो, अखण्ड शक्तिवाला सर्वत्र व्यापक वह भगवान् हमारे लिए मगलकारी हो, सबका महान् पालक वह भगवान् हमारे लिए मंगलकारी हो।